नव तत्त्व

प्रकाशक:—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति रक्षक संघ
नेहरु गेट बाहर, ब्यावर (राज.)

654 SCERC

जैन संस्कृति-रक्षक संघ साहित्य रत्नमाला का ३२ वां रत्न

नव तत्त्व

प्रकाशक—

अखिल भारतीय साधुमार्गी
जैन संस्कृति-रक्षक संघ
नेहरु गेट बाहर, ब्यावर (राज०)

प्राप्ति-स्थान

१ श्री अखिल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति-रक्षक संघ
नेहरु गेट बाहर ब्यावर ३०५९०१
२ " सैलाना ४५७-५५०
३ " एदुन बिल्डिंग, पहली धोबी-तलाव लेन
बम्बई ४००००२
४ " सिटी पुलिस, जोधपुर (राजस्थान)
५ श्री भंवरलालजी बांठिया
नं. ९ पुलियानतोप, हाइरोड, मद्रास–१२
६ " हस्तीमलजी किशनलालजी जैन
६७ बालाजीपेठ, जलगांव–१
७ " अमरचंदजी कूकड़ा, उदयपुर राज०
८ " संतोषचंदजी जैन कोटा–६
९ " जैन युवा संगठन, नाथद्वारा राज०

मूल्य–५–00

छठी आवृत्ति वीर संवत् २५१८
३००० विक्रम संवत् २०४९
अक्टूबर सन् १९९३

मुद्रक–श्री जैन प्रिंटिंग प्रेस, ब्यावर राजस्थान

प्रथमावृत्ति का--

प्रकाशकीय निवेदन

जीवादि नौ पदार्थ तत्त्वज्ञान है। तत्त्वज्ञान पा कर मनुष्य हेयोपादेय समझ सकता है और आचरण में ला कर परम सुखी बन सकता है। मनुष्य, लौकिक विद्या कितनी ही पढ़े, उच्चतम कही जाने वाली परीक्षाएँ उच्चतम श्रेणी में पास कर, उच्चतम पद एवं अलंकार से अलंकृत होने वाला व्यक्ति, आत्मिक दृष्टि से तबतक अज्ञानी माना जाता है, जबतक कि वह तत्त्वज्ञानी न हो जाय– तात्त्विक श्रद्धा से सम्पन्न न हो जाय। जिनोपदिष्ट नौ तत्त्वों में लोकालोक का स्वरूप और उत्थान-पतन के कारणों का ज्ञान कराया गया है। प्रत्येक जैन को नवतत्त्व का ज्ञान करना ही चाहिए। यदि विस्तार से कर सके, तो बहुत ही अच्छा। जितना अधिक जानेगा, उतना अधिक पाएगा और चिन्तन-मनन से ज्ञानावरण का क्षयोपशम होते हुए परोक्ष ज्ञानी से प्रत्यक्ष ज्ञानी होने की आत्म-स्थिति बनती जायगी। लौकिक ज्ञान इस जीवन में भौतिक लाभ एवं मान-सम्मान करा सकता है किंतु जीवन निर्मल नहीं बना सकता, इतना ही नहीं, प्रायः पतन एवं महापतन में गिरा देता है, तब तत्त्वज्ञान का अभ्यास इस जीवन और भविष्य के (शरीर परिवर्तन के बाद के) जीवन का भी उत्थान करता है, सुखी बनाता है। जैन कुल में जन्म लेकर और जैनी कहा कर, जैन तत्त्वज्ञान से अनभिज्ञ रहना, मनुष्य के लिए शोभनीय नहीं है।

'नवतत्त्वों का स्वरूप' नामक पुस्तक लगभग ९ वर्ष पूर्व प्रकाशित हुई थी। उसके लेखक–पं. श्री घेवरचन्दजी सा. बांठियां वीरपुत्र, न्याय-व्याकरणतीर्थ जैनसिद्धांत शास्त्री थे। और श्रीमान् सेठ आशारामजी छोगालालजी हुंडिया गढ़सिवाना निवासी ने प्रकाशित करवाई थी। किंतु वह अप्राप्य थी।

इसका प्रकाशन होना आवश्यक भी था। प्रिय-दृढ़धर्मी तत्त्ववेत्ता सुश्रावक श्रीमान् सेठ श्रीगुलाबमलजी सा. गिड़िया जोधपुर निवासी ज्ञान-दान का उत्तम कार्य कर रहे हैं। आपके शुभ प्रयास से जोधपुर में सैकड़ों जैन विद्यार्थियों को ज्ञानाभ्यास कराया गया। यह शुभ प्रवृत्ति चल रही है। आप स्वयं भी सिखाते हैं। आपको नवतत्त्व पुस्तक का अप्राप्य होना खटका। आपने मुझे प्रेरित किया और पण्डित श्री बाँठिया साहब वाली पुस्तक में के विशेष विवेचन को अनेक स्थानों पर कम कर के छपाने को दी। मैंने भी उसमें यत्रतत्र कुछ परिवर्तन किया है और ३३६ पृष्ठ में प्रकाशित नवतत्त्वों को मात्र १४४ पृष्ठों में ही पूरा किया है।

संघ का आगम एवं तात्त्विक पुस्तकों के प्रकाशन का कार्य शनैः शनैः गति कर रहा है। प्रकाशन ऐसे ही साहित्य का होता है कि जिससे तत्त्वज्ञान की वृद्धि हो, समाज में जिनधर्म का ज्ञान बढ़े और मनुष्य अपने धर्म को सही रूप में समझ कर आत्मोत्थान करे। प्रियधर्मी महानुभावों की उदारता से यह शुभ एवं उत्तम कार्य आगे बढ़ता जा रहा है। संघ सभी धर्मबन्धुओं और बहिनों से ऐसे ही सहयोग की आशा रखता है।

सैलाना, दि. १५-१२-७७ रतनलाल डोशी, प्रधानमन्त्री

इस आवृत्ति के विषय में निवेदन

नवतत्त्व की पांचवीं आवृत्ति के अप्राप्य हो जाने पर तत्त्व जिज्ञासुओं की ओर से इसकी मांग बनी रही। परन्तु अन्य प्रकाशन कार्य के कारण इसका पुनर्मुद्रण शीघ्र संभव नहीं हो सका। अब ३००० प्रतियाँ प्रकाशित की गयी है। आशा है तत्त्वज्ञान सीखने वालों के लिए इस छठी आवृत्ति का प्रकाशन विशेष उपयोगी सिद्ध होगा।

ब्यावर, दिनांक १०-१०-९३ पारसमल चण्डालिया

नव तत्त्व

तत्त्व—वस्तु के वास्तविक स्वरूप को 'तत्त्व' कहते हैं। तत्त्व नौ हैं। यथा— १ जीव २ अजीव ३ पुण्य ४ पाप ५ आस्रव ६ संवर ७ निर्जरा ८ बन्ध और मोक्ष।

१ **जीव**—जिसमें उपयोग (ज्ञानशक्ति) हो। जीव सुख, दुःख पुण्य और पाप का कर्त्ता और भोक्ता है। वह अतीत, अनागत और वर्त्तमान तीनों काल में सदा शाश्वत रहता है। वह अमर है। उसका कभी विनाश नहीं होता।

२ **अजीव**—जो चैतन्य रहित (जड़) ही हो। अजीव को सुख-दुःख नहीं होता। वह पुण्य-पाप का कर्त्ता और भोक्ता भी नहीं है।

३ **पुण्य**—जिसके उदय से जीव को सुख की प्राप्ति हो तथा जिससे आत्मा पवित्र बने, उसे 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य की प्रकृति शुभ होती है। पुण्य कठिनाई से बांधा जाता है और सुखपूर्वक

भोगा जाता है। यह शुभ योगों से बांधा जाता है। पुण्य के फल मीठे होते हैं।

४ पाप–जिसके उदय से जीव को दुःख की प्राप्ति हो तथा जो आत्मा के पतन का कारण हो। पाप की प्रकृति अशुभ होती है और अशुभ योगों से बांधी जाती है। पाप बांधना सरल है, परन्तु भोगना बड़ा दुःखदायी होता है। पाप के फल कड़वे होते हैं।

५ आस्रव–जिसके द्वारा कर्म-पुद्गल, आत्मा के साथ चिपकने के लिये आते हैं। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी नालों से पुण्य और पाप रूपी पानी आता है, उसे 'आस्रव' कहते हैं।

६ संवर–आस्रव को रोकना 'संवर' कहलाता है। जीव रूपी तालाब में कर्म रूपी नालों से आते हुए पुण्य-पाप रूपी पानी को रोकना 'संवर' कहलाता है।

७ निर्जरा–विपाक (फल-भोग) द्वारा अथवा तप-संयम द्वारा देशतः कर्मों का क्षय होना 'निर्जरा' है। जिस प्रकार कपड़े पर लगा हुआ मैल, जल तथा साबुन द्वारा दूर कर दिया जाता है, उसी प्रकार जीव रूपी कपड़े पर लगे हुए कर्म रूपी मैल को ज्ञान रूपी जल एवं तप-संयम रूप साबुन से धो कर आत्मा को निर्मल बनाना 'निर्जरा' कहलाता है।

८ बन्ध–आस्रव द्वारा आये हुए कर्मों का आत्मा के साथ सम्बन्ध होना अर्थात् आत्मा के साथ कर्मों का लोलीभूत हो जाना 'बन्ध' कहलाता है।

९ मोक्ष–सम्पूर्ण कर्मों का सर्वथा क्षय हो जाने पर आत्मा का अपने स्वरूप में लीन हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है।

हेय ज्ञेय और उपादेय

वैसे तो नव ही तत्त्व ज्ञेय हैं, क्योंकि ज्ञान हुए बिना उनका स्वीकार और त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु अपेक्षा विशेष से जीव अजीव और पुण्य* ये तीन तत्त्व ज्ञेय (जानने योग्य)हैं। संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये तीन तत्त्व उपादेय (ग्रहण करने योग्य) हैं। पाप, आस्रव और बन्ध–ये तीन तत्त्व हेय (छोड़ने योग्य) हैं।

रूपी अरूपी

पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध––ये चार रूपी हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष––ये चार अरूपी हैं। (जीव है तो अरूपी किन्तु संसारी जीव, कर्मों से युक्त हैं, अतएव बन्ध तत्त्व से मिश्र है) अजीव तत्त्व के पाँच भेद हैं, उनमें से धर्मास्ति-काय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल–ये चार तो अरूपी हैं और एक पुद्गलास्तिकाय रूपी है।

नव तत्त्व में जीव अजीव

चार जीव और पांच अजीव हैं। जीव, संवर, निर्जरा और मोक्ष–ये चार तो जीव हैं और अजीव पुण्य, पाप, आस्रव और बन्ध–ये पांच अजीव हैं। निश्चयदृष्टि से तो जीव तत्त्व ही जीव है और अजीव तत्त्व अजीव है। शेष सात तत्त्व, जीव अजीव की पर्याय हैं जैसे कि गीली मिट्टी से गोली बन्धती है, वैसे ही जीव और अजीव के संयोग से सात तत्त्व उत्पन्न होते हैं।

---

* अपेक्षा भेद से पुण्य को हेय भी कहा है—डोशी ।

नव तत्त्वों के भेद

जीव तत्त्व के चौदह भेद, अजीव तत्त्व के चौदह भेद, पुण्य के नौ, पाप के अठारह, आस्रव के बीस, संवर के बीस, निर्जरा के बारह, बन्ध के चार और मोक्ष तत्त्व के चार भेद हैं।

१ जीव तत्त्व

जीव तत्त्व तीन प्रकार से पहचाना जाता है— १ द्रव्य २ गुण और ३ पर्याय। द्रव्य और गुण सदा एक साथ रहते हैं। वे कभी भिन्न नहीं होते। जहाँ द्रव्य है, वहाँ गुण रहता ही है, द्रव्य के आश्रय में ही गुण रहता है। जिस प्रकार चन्द्रमा से चाँदनी पृथक् नहीं रहती, वह सदा चन्द्रमा के साथ ही रहती है। पानी की शीतलता सदैव पानी के साथ रहती है और अग्नि की उष्णता सदैव अग्नि के साथ ही रहती है, उसी प्रकार जीव का उपयोग गुण सदैव जीव के साथ ही रहता है। अवस्था में परिवर्तन 'पर्याय' कहलाता है। जीव की अवस्था का पलटना तथा एक गति से दूसरी गति में जाना जीव का 'पर्याय' कहलाता है।

सामान्य रूप से जीव के चौदह भेद हैं। किन्तु अपेक्षा विशेष से जीव के भेद एक से ले कर चौदह तक होते हैं। जैसे कि—

१ उपयोग गुण की अपेक्षा जीव का भेद एक है।

२ जीव के दो भेद–१ सिद्ध और २ संसारी, अथवा १ त्रस

और २ स्थावर।

३ जीव के तीन भेद—१ स्त्री वेद, २ पुरुष वेद और ३ नपुंसक वेद।

४ जीव के चार भेद–१ नरक, २ तिर्यंच, ३ मनुष्य और ४ देव।

५ जीव के पांच भेद – १ एकेन्द्रिय, २ बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, ४ चौरिन्द्रिय और ५ पंचेन्द्रिय।

६ जीव के छह भेद–१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय और ६ त्रसकाय।

७ जीव के सात भेद–१ नरक, २ तिर्यंच, ३ तिर्यंचिनी, ४ मनुष्य, ५ मनुष्यिनी, ६ देव और ७ देवांगना।

८ जीव के आठ भेद–चार गति के पर्याप्त जीव और अपर्याप्त जीव।

९ जीव के नौ भेद–१ पृथ्वीकाय, २ अप्काय, ३ तेउकाय, ४ वायुकाय, ५ वनस्पतिकाय, ६ बेइन्द्रिय, ७ तेइन्द्रिय, ८ चौरिन्द्रिय और ९ पंचेन्द्रिय।

१० जीव के दस भेद–एकेन्द्रिय, बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय–इन पांच के पर्याप्त और अपर्याप्त।

११ जीव के ग्यारह भेद–उपरोक्त दस भेद और ग्यारहवां अनिन्द्रिय(सिद्ध भगवान्)।

१२ जीव के बारह भेद–पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय–इन छह काय के पयर्याप्त और अर्याप्त।

१३ जीव के तेरह भेद–छह काया के उपरोक्त बारह भेद और तेरहवां भेद अकायिक (सिद्ध भगवान्)।

१४ जीव के चौदह भेद–एकेन्द्रिय के दो भेद–सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के पर्याप्त और अपर्याप्त। इस प्रकार एकेंद्रिय के चार भेद हुए। ५–६ बेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ७–८ तेइन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ९–१० चौरिन्द्रिय के पर्याप्त और अपर्याप्त। ११–१४ पंचेन्द्रिय के ४ भेद–संज्ञी पंचेन्द्रिय और असंज्ञी पंचेंद्रिय, इनके पर्याप्त और अपर्याप्त।

त्रस–त्रास एवं भय तथा सर्दी-गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिए जो जीव एक स्थान से दूसरे स्थान पर जा सकते हैं, चल-फिर सकते हैं, वे त्रस नाम-कर्म के उदय से 'त्रस' कहलाते हैं। जैसे–बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चौरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय।

स्थावर–जो जीव त्रास, भय, सर्दी, गर्मी आदि से अपना बचाव करने के लिये एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकते, चल-फिर नहीं सकते, वे जीव स्थावर नाम-कर्म के उदय से 'स्थावर' कहलाते हैं। जैसे–एकेन्द्रिय जीव, पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय।

जीव के उत्कृष्ट भेद ५६३ हैं। यथा नारकी के १४ भेद, तिर्यंच के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ भेद। ये सब मिला कर ५६३ भेद होते हैं।

नारकी के चौदह भेद—१ घम्मा, २ वंसा, ३ सीला, ४ अंजना, ५ रिट्ठा ६ मघा और ७ माघवई–ये सात नरकों के नाम हैं और १ रत्नप्रभा, २ शर्कराप्रभा ३ बालुकाप्रभा, ४ पंकप्रभा, ५

धूमप्रभा, ६ तमःप्रभा और ७ तमस्तमः प्रभा–ये सात नरकों के गोत्र हैं। इन सात में रहने वाले जीवों के पर्याप्त और अपर्याप्त के भेद से नारक जीवों के १४ भेद होते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा आदि नाम का कारण–पहली नारकी में रत्नकाण्ड है, जिससे वहां रत्नों की प्रभा पड़ती है। इसलिए उसे 'रत्नप्रभा' कहते हैं। दूसरी नारकी में शर्करा अर्थात् तीखे पत्थरों के टुकड़ों की अधिकता है, इसलिए उसे 'शर्कराप्रभा' कहते हैं। तीसरी नारकी में बालुका अर्थात् बालू (रेत) अधिक है और वह भड़भुंजा की भाड़ से अनन्त गुण अधिक उष्ण है, इसलिए उसे 'बालुकाप्रभा' कहते हैं। चौथी नारकी में रक्त-मांस के कीचड़ की अधिकता है, इसलिए उसे 'पङ्कप्रभा' कहते हैं। पांचवीं नारकी में धूम (धूआं) अधिक है और सोमलखार से भी अनन्तगुण अधिक खारा है, इसलिए उसे 'धूमप्रभा' कहते हैं। छठी नारकी में तमः (अंधकार) की अधिकता है, इसलिए उसे' तमः प्रभा' कहते हैं। सातवीं नारकी में महातमस् (गाढ़ अंधकार) है, इसलिए उसे 'महातमः प्रभा' कहते हैं। इसको 'तमस्तमःप्रभा' भी कहते हैं, जिसका अर्थ है–घोरतम अंधकार।

पहली रत्नप्रभा नरक का पिण्ड एक लाख अस्सी हजार योजन का है। उनमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर बीच में एक लाख अठहत्तर हजार योजन की पोलार है। उसमें १३ पाथडे और १२ आंतरे हैं। उसमें तीस लाख नरकावास हैं।

और उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। पहली नरक के नीचे चार बोल हैं—१ बीस हजार योजन का घनोदधि हैं, २ असंख्यात योजन का घनवात है, ३ असंख्यात योजन का तनुवात है और ४ असंख्यात योजन का आकाश है। उसके नीचे दूसरी नरक है।

पाथड़ा—नरक के एक परदे के बाद जो स्थान होता है, उस तरह के स्थानों को 'पाथड़ा'–प्रस्तट अथवा प्रतर कहते हैं।

आंतरा—एक पाथड़े से दूसरे पाथड़े के बीच का जो स्थान है उसे आंतरा(अन्तर)कहते हैं।

दूसरी नरक का पिण्ड एक लाख बत्तीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन नीचे छोड़ देने पर बीच में एक लाख तीस हजार योजन की पोलार है। उसमें ११ पाथड़े और १० आंतरे हैं, उनमें पच्चीस लाख नरकावास हैं। उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे पहली नरक की तरह घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे तीसरी नरक है।

तीसरी नरक का पिण्ड एक लाख अट्ठाईस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर बीच में एक लाख छब्बीस हजार योजन [illegible] र है। उसमें ९ पाथड़े और ८ आंतरे हैं। उनमें पन्द्रह लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों

के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। वहां असंख्यात नैरयिक जीव हैं। तीसरी नरक के नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। इसके नीचे चौथी नरक है।

चौथी नरक का पिण्ड एक लाख बीस हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख अठारह हजार योजन की पोलार है। उसमें ७ पाथड़े और ६ आंतरे हैं। उनमें दस लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे पांचवीं नरक है।

पांचवीं नरक का पिण्ड एक लाख अठारह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख सोलह हजार योजन की पोलार है। उनमें पांच पाथड़े और चार आंतरे हैं। उनमें तीन लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात तनुवात और आकाश है। उसके नीचे छठी नरक है।

छठी नरक का पिण्ड एक लाख सोलह हजार योजन का है। उसमें से एक हजार योजन की ठीकरी ऊपर और एक हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में एक लाख

चौदह हजार योजन की पोलार है। उनमें तीन पाथड़े और दो आंतरे हैं। उनमें पांच कम एक लाख नरकावास हैं। नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुम्भियां हैं। असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे, ऊपर लिखे अनुसार घनोदधि, घनवात, तनुवात और आकाश है। उसके नीचे सातवीं नरक है।

सातवीं नरक का पिण्ड एक लाख आठ हजार योजन का है। उसमें से साढ़े बावन हजार योजन की ठीकरी ऊपर और साढ़े बावन हजार योजन की ठीकरी नीचे छोड़ देने पर, बीच में तीन हजार योजन की पोलार है। उसमें केवल एक पाथडा है, आंतरा नहीं है। उसमें पांच नरकावास हैं। उनमें नैरयिक जीवों के उत्पन्न होने की असंख्यात कुंभियां हैं। उनमें असंख्यात नैरयिक जीव हैं। उसके नीचे बीस हजार योजन का घनोदधि है। उसके नीचे बीस हजार योजन का घनवात है। उसके नीचे असंख्यात योजन का तनुवात है। उसके नीचे असंख्यात योजन का लोकाकाश है और उसके नीचे अनन्त अलोकाकाश है।

तिर्यंच के ४८ भेद

तिर्यंच के भेद—एकेन्द्रिय के २२, विकलेन्द्रिय के ६ और पंचेंद्रिय के २०, ये कुल मिला कर तिर्यंच के ४८ भेद होते हैं।

४ पृथ्वीकाय के चार भेद— सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त।

पृथ्वीकाय—मिट्टी, हींगलू, हड़ताल, पत्थर, हीरा, पन्ना आदि। इनकी सात लाख योनि है। स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त और

४ वायुकाय के चार भेद–सूक्ष्म और बादर। इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। उक्कलियावाय, मंडलियावाय, घनवाय, तनुवाय, पूर्ववाय, पश्चिमवाय आदि। योनि सात लाख है स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन हजार वर्ष की है। एक फूंक की वायु में असंख्याता जीव हैं। वायुकाय का वर्ण हरा है। स्वभाव चलना है। सस्थान ध्वजा के आकार है।

६ वनस्पतिकाय के छह भेद–सूक्ष्म, प्रत्येक और साधारण–इन तीनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। प्रत्येक वनस्पतिकाय की योनि दस लाख है और साधारण वनस्पतिकाय की चौदह लाख है। वनस्पतिकाय का वर्ण काला है। स्वभाव और संस्थान नाना प्रकार का है। एक शरीर में एक जीव हो, उसे 'प्रत्येक वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे–आम, अंगूर, केला, बड़, पीपल आदि। योनि दस लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट दस हजार वर्ष है।

कन्द-मूल की जाति को 'साधारण वनस्पतिकाय' कहते हैं। जैसे–लहशुन, सकरकन्द, अदरख, आलू, रतालू, गाजर, मूली, हरी हलदी, मूंगफली, लीलण-फूलण आदि। योनि चौदह लाख है। उपरोक्त कन्दमूल आदि साधारण वनस्पतिकाय में एक सूई के अग्रभाग पर आवे उतने में असंख्याता श्रेणियाँ हैं। एक श्रेणी में असंख्याता प्रत्तर हैं एक प्रतर में असंख्याता गोले हैं, एक-एक गोले में असंख्याता शरीर हैं और प्रत्येक शरीर में अनन्त जीव हैं। स्थिति जघन्य और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है।

पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय, वायुकाय और वनस्पतिकाय-

इन पांचों काय के सूक्ष्म को तो केवली भगवान् ही देख सकते हैं। वे छद्मस्थ के दृष्टिगोचर नहीं होते। बादर को केवली भगवान् और छद्मस्थ दोनों देखते हैं। इन पांचों काय के जीव, चार पर्याप्तियां (आहार, शरीर, इन्द्रिय और श्वासोच्छ्वास) पूरी बांध लेते हैं, वे 'पर्याप्त' कहलाते हैं और जो इनसे कम बांधते हैं, या पूरी नहीं बांधते, वे 'अपर्याप्त' कहलाते हैं।

पृथ्वीकाय आदि पांच स्थावर के उपरोक्त प्रकार से २२ भेद हुए।

विकलेन्द्रिय के ६ भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं—बेइन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय और रसनेन्द्रिय अर्थात् शरीर और मुख—ये दो इन्द्रियां होती हैं, उसे 'बेइन्द्रिय' कहते हैं। जैसे—शंख, सीप, कोड़ी, कोड़ा, लट, अलसिया, कृमि (चूरणिया)बाला(नहरू) आदि दो लाख योनि हैं। बेइन्द्रिय की स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट बारह वर्ष की है।

तेइन्द्रिय के दो भेद—अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और घ्राणेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख और नाक—ये तीन इन्द्रियां होती हैं, उसे 'तेइन्द्रिय' कहते हैं। जैसे—जूं, लीख, चांचड, मांकड (खटमल)कीड़ा, कुंथुआ, कानखजूरा आदि। दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट उनपचास दिन की है।

चौरिन्द्रिय के दो भेद-अपर्याप्त और पर्याप्त। जिसके स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय और चक्षुइन्द्रिय है अर्थात् शरीर

उत्कृष्ट स्थिति सण्हा (श्लक्ष्ण) पृथ्वी की एक हजार वर्ष, शुद्ध पृथ्वी की बारह वर्ष, बालु पृथ्वी की चौदह हजार वर्ष, सखरा पृथ्वी की अठारह हजार वर्ष और खर पृथ्वी की बाईस हजार वर्ष की है। एक कंकर जितनी पृथ्वीकाय में असंख्याता जीव होते हैं। पृथ्वीकाय का वर्ण पीला है। स्वभाव कठोर है। संस्थान चन्द्रमा अथवा मसूर की दाल के समान है। एक पर्याप्त की नेश्राय में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

४ अप्काय के चार भेद–सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। अप्काय में–बरसात का पानी, ओस का पानी, गड्ढे का पानी, समुद्र का पानी, धूंअर का पानी, कुआँ, बावड़ी आदि का पानी। योनि सात लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सात हजार वर्ष की है। एक पानी की बूँद में असंख्यात जीव है। अप्काय का वर्ण लाल है। स्वभाव ढीला है। संस्थान पानी के परपोटे (बुलबुले) के समान है। एक पर्याप्त के आश्रय में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

४ तेउकाय के चार भेद–सूक्ष्म और बादर, इन दोनों के अपर्याप्त और पर्याप्त। झाल की अग्नि, बिजली की अग्नि, बाँस की अग्नि, उल्कापात आदि। योनि सात लाख है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीन दिन-रात की है। एक अग्नि की चिनगारी में असंख्यात जीव हैं। तेउकाय का वर्ण श्वेत और स्वभाव उष्ण है। संस्थान सूई के भारे के समान है। सूई की तरह अग्नि की झाल नीचे से छोटी और ऊपर से मोटी होती है। एक पर्याप्त के आश्रय में असंख्यात अपर्याप्त उत्पन्न होते हैं।

मुख, नाक और आंख–ये चार इन्द्रियाँ होती है, उसे 'चौरिन्द्रिय' कहते हैं। जैसे-मक्खी, डाँस, मच्छर, भँवरा, टिड्डी, पतंगिया, कसारी आदि। दो लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट छह मास की होती है।

तिर्यंच पंचेंद्रिय के बीस भेद–१ जलचर २ स्थलचर ३ खेचर ४ उरपरिसर्प और ४ भुजपरिसर्प। इन पांच के संज्ञी और असंज्ञी के भेद से दस भेद होते हैं। इन दस के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से बीस भेद हो जाते हैं। तिर्यंच पंचेंद्रिय के-स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुइन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय अर्थात् शरीर, मुख, नाक, आँख और कान–ये पांचों ही इन्द्रियां होती हैं। गाय, भैंस, बैल, हाथी, घोड़ा आदि चार लाख योनि है। स्थिति जघन्य अन्तर्मुहूर्त उत्कृष्ट तीन पल्योपम की होती है।

१ जलचर–जल में चलने वाले जीव 'जलचर' कहलाते हैं। जलचर के मच्छ, कच्छप (कछुआ) मगर, ग्राह और सुंसुमार ये पांच भेद हैं।

२ स्थलचर–स्थल (पृथ्वी) पर चलने वाले जीव 'स्थलचर' कहलाते हैं। जैसे–गाय, भैंस, घोड़ा आदि। स्थलचर के एक खुरा, दो खुरा, गण्डीपदा और सनखपदा–ये चार भेद होते हैं। जिनके पैर में एक ही खुर होता है, वे 'एक खुरा' कहलाते हैं, जैसे–घोड़ा गधा, आदि। जिनके पैर में दो खुर होते हैं वे 'दो खुरा' कहलाते हैं, जैसे–गाय, भैंस, बैल आदि। जिनके पैर सुनार की एरण की तरह चपटे होते हैं, वे 'गण्डीपदा' कहलाते हैं। जैसे–हाथी आदि। जिनके पैरों में नख युक्त पंजा होता

है वे 'सनखपदा' कहलाते हैं। जैसे—कुत्ता, बिल्ली, सिंह, चीता आदि।

३ **खेचर**—'खे' का अर्थ है—आकाश। आकाश में उड़ने वाले जीव 'खेचर' कहलाते हैं। जैसे—१ चर्मपक्षी २ रोमपक्षी ३ समुद्गक पक्षी और ४ विततपक्षी। चर्ममय पख वाले पक्षी 'चर्मपक्षी' कहलाते हैं—चमगादड़ आदि। रोममय पंख वाले पक्षी 'रोमपक्षी' कहलाते हैं—हंस, बगुला, चीड़ी, कबूतर आदि। समुद्गक (डिब्बे के समान) बन्द पंख वाले पक्षी 'समुद्गक' कहलाते हैं। फैले हुए पंख वाले 'विततपक्षी' कहलाते हैं। समुद्गक पक्षी और विततपक्षी—ये दो जाति के पक्षी ढ़ाई द्वीप के बाहर ही होते हैं।

४ **उरपरिसर्प**—उर—छाती से चलने वाले जीव 'उरपरिसर्प' कहलाते हैं, जैसे—साँप आदि।

५ **भुजपरिसर्प**—भुजाओं से चलने वाले जीव 'भुजपरिसर्प' कहलाते हैं, जैसे—नेवला, चूहा आदि।

इस प्रकार एकेन्द्रिय के २२, तीन विकलेन्द्रिय के ६ और तिर्यञ्च पंचेन्द्रिय के २०। ये सभी मिला कर तिर्यञ्च के ४८ भेद हुए।

मनुष्य के ३०३ भेद

१५ कर्मभूमि के, ३० अकर्मभूमि के और ५६ अन्तरद्वीपों के—ये सभी मिला कर गर्भज मनुष्य के १०१ भेद होते हैं। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त ये २०२ भेद हुए और १०१ सम्मूर्च्छिम

मनुष्य के अपर्याप्त। ये सब मिला कर मनुष्य के ३०३ भेद होते हैं।

पन्द्रह कर्मभूमि के स्थान—५ भरत, ५ ऐरावत और ५ महाविदेह, ये १५ कर्मभूमि के क्षेत्र हैं। इनमें से एक भरत, एक ऐरावत और एक महाविदेह—ये तीन क्षेत्र जम्बुद्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह—ये छह क्षेत्र धातकीखण्ड द्वीप में हैं। दो भरत, दो ऐरावत और दो महाविदेह—ये छह क्षेत्र अर्द्ध पुष्कर द्वीप में है।

कर्मभूमि—जहां असि (तलवार आदि शस्त्र) मसि(स्याही अर्थात् लिखने-पढ़ने का कार्य) और कृषि (खेती) के द्वारा मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं, उसे 'कर्मभूमि' कहते हैं। कर्मभूमि में तीर्थंकर, गणधर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका होते हैं। राजा प्रजा का व्यवहार होता है। कर्मभूमि में केतु, सेतु और अपकेतु रूप पृथ्वी होती है। जहां बीज बोने से धान्यादि होते हैं, उस भूमि को 'केतु' कहते हैं। जहां जल सींचने से धान्यादि होते हैं, उस भूमि को 'सेतु' कहते हैं और जहां बोये बिना ही अड़क धान्य तथा घास-फूस आदि उगते हैं, उस भूमि को 'अपकेतु' कहते हैं। इन पन्द्रह कर्मभूमि में उत्पन्न मनुष्यों को 'कर्मभूमिज' कहते हैं।

तीस अकर्मभूमि—५ देवकुरु, ५ उत्तरकुरु, ५ हरिवास, ५ रम्यक्वास, ५ हैमवत और ५ हैरण्यवत—ये तीस क्षेत्र 'अकर्मभूमि' कहलाते हैं। इनमें से एक देवकुरु, एक उत्तरकुरु, एक

हरिवास, एक रम्यक्वास, एक हैमवत और एक हैरण्यवत–ये छह क्षेत्र जम्बूद्वीप में हैं। ये ही दो-दो क्षेत्र के हिसाब से बारह क्षेत्र धातकीखण्ड द्वीप में हैं और बारह क्षेत्र अर्द्ध पुष्कर द्वीप में है।

अकर्मभूमि—जहां असि-मसि-कृषि का कर्म(व्यापार) नहीं होता, उसे 'अकर्मभूमि' कहते हैं। इन क्षेत्रों में उत्पन्न हुए मनुष्यों को 'अकर्मभूमिज' कहते हैं। इन क्षेत्रों में दस प्रकार के कल्पवृक्ष होते हैं। ये कल्पवृक्ष मन-वांछित फल देते हैं। इन्हीं से अकर्मभूमिज मनुष्य अपना निर्वाह करते हैं। कोई भी कर्म (कार्य) न करने से और कल्पवृक्षों द्वारा मनवांछित भोग (फल)प्राप्त होने से इन क्षेत्रों को 'भोगभूमि' और यहां के उत्पन्न मनुष्यों को 'भोगभूमिज' कहते हैं। यहां पुत्र और पुत्री जोड़े से जन्म लेते हैं। इसलिए इन्हें 'युगलिया' भी कहते हैं। युगलिया (भाई-बहन का जोड़ा)बड़ा हो कर पति-पत्नी रूप से रहते हैं और अपने जीवन में केवल एक युगल (पुत्र-पुत्री) को जन्म देते हैं। फिर दोनों एक साथ ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं। युगलिये मर कर देवलोक में जाते हैं।

उपरोक्त तीस अकर्मभूमि के क्षेत्रों में तीर्थंकर, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, प्रतिवासुदेव, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका आदि नहीं होते। राजा-प्रजा का व्यवहार नहीं होता। वहां केतु और सेतु क्षेत्र नहीं होते, किंतु अपकेतु क्षेत्र होते हैं।

अंतरद्वीप—लवण समुद्र के भीतर होने से इनको 'अंतर-द्वीप' कहते हैं। उनमें रहने वाले मनुष्यों को 'अन्तरद्वीपक' कहते हैं।

जम्बूद्वीप में भरत क्षेत्र और हैमवत क्षेत्र की मर्यादा करने वाला 'चुल्लहिमवंत' नाम का पर्वत है। वह स्वर्ण समान पीला है। वह सौ योजन ऊँचा है, पच्चीस योजन पृथ्वी के भीतर है। एक हजार बावन योजन बारह कला का चोड़ा है, चौवीस हजार नौ सौ बत्तीस योजन लम्बा है।

चुल्लहिमवंत पर्वत पूर्व और पश्चिम में लवण समुद्र को स्पर्श करता है। उस पर्वत के पूर्व और पश्चिम के चरमान्त से चारों विदिशाओं (ईशान, आग्नेय, नैऋत्य, और वायव्य) में लवण समुद्र में प्रत्येक विदिशा में तीन-तीन सौ योजन जाने पर प्रत्येक दिशा में एकोरुक आदि एक-एक द्वीप आता है। वे द्वीप गोल हैं। उनकी लम्बाई-चौड़ाई तीन-तोन सौ योजन की है। परिधि प्रत्येक की ९४९ योजन से कुछ कम है। इन द्वीपों से चार-चार सौ योजन लवण समुद्र में जाने पर क्रमशः पांचवां छठा, सातवां, आठवां द्वीप आता है। इनकी लम्बाई चौड़ाई चार-चार सौ योजन की है। ये भी गोल हैं। इनकी प्रत्येक की परिधि १२६५ योजन से कुछ कम है। इसी प्रकार इनसे आगे क्रमशः पाँच सौ, छह सौ, सात सौ, आठ सौ, नव सौ, योजन जाने पर क्रमशः चार-चार द्वीप आते हैं। उनकी लम्बाई चौड़ाई पांच सौ से लेकर नव सौ योजन तक क्रमशः जाननी चाहिये। सभी गोल हैं। तिगुनी से कुछ अधिक परिधि है। इसी प्रकार चुल्लहिमवंत पर्वत की चारों विदिशाओं में अट्ठाईस अंतर-द्वीप हैं।

चुल्लहिमवंत पर्वत के ईशान कोण में लवण समुद्र में स्थित सात अन्तरद्वीप इस प्रकार हैं–१ जम्बूद्वीप के जगती के कोट से लवण समुद्र में तीन सौ योजन जाने पर पहला 'एकोरुक'

नाम वाला अंतरद्वीप आता है। इसका विस्तार तीन सौ योजन का और इसकी परिधि कुछ कम ९४९ योजन की है।

२ एकोरुक द्वीप से चार सौ योजन आगे जाने पर दूसरा 'हयकर्ण' नाम वाला द्वीप आता है। यह द्वीप जगती के कोट से चार सौ योजन दूर है। यह चार सौ योजन विस्तार वाला है और इसकी परिधि कुछ कम १२६५ योजन की है।

३ हयकर्ण द्वीप से पांच सौ योजन आगे जाने पर तीसरा 'आदर्शमुख' नाम का अंतरद्वीप आता है। यह जगती के कोट से पांच सौ योजन दूर है। इसका विस्तार (लम्बाई-चौड़ाई) पांच सौ योजन है और परिधि १५८१ योजन की है।

४ आदर्शमुख अन्तरद्वीप से छह सौ योजन आगे जाने पर चौथा 'अश्वमुख' नाम वाला अन्तरद्वीप आता है। यह जम्बूद्वीप की जगती के कोट से छह सौ योजन दूर है। इसका विस्तार छह सौ योजन का है और परिधि १८९७ योजन की है।

५ चौथे अश्वमुख अन्तरद्वीप से सात सौ योजन आगे जाने पर पांचवां अश्वकर्ण अन्तरद्वीप आता है। यह जम्बूद्वीप की जगती के कोट से सात सौ योजन दूर है। इसका विस्तार सात सौ योजन का है और परिधि २२१३ योजन की है।

६ अश्वकर्ण अन्तरद्वीप से आठ सौ योजन आगे जाने पर छठा 'उल्कामुख' नाम का अन्तरद्वीप आता है। यह जगती के कोट से आठ सौ योजन दूर है। इसका विस्तार आठ सौ योजन का और परिधि २५२९ योजन की है।

७ उल्कामुख अन्तरद्वीप से नौ सौ योजन आगे जाने पर सातवां 'घनदन्त' नाम का अन्तरद्वीप आता है। यह जगती के

कोट से नौ सौ योजन दूर है। इसका विस्तार नौ सौ योजन का है और परिधि २८४५ योजन की है। इन सातों अन्तर-द्वीपों में उत्तरोत्तर सौ योजन का विस्तार बढ़ता गया है और परिधि में उत्तरोत्तर २१६ योजन बढ़ते गये हैं। जितना इनका विस्तार है, उतने ही ये जगती के कोण से दूर हैं।

चुल्लहिमवंत पर्वत के ईशानकोण में लवण समुद्र में सात अन्तरद्वीप जिस क्रम से स्थित हैं और जितने विस्तार और परिधि वाले हैं, चुल्लहिमवंत पर्वत की आग्नेय कोण, नैऋत्य कोण और वायव्य कोण में भी उसी क्रम से सात-सात अन्त-रद्वीप हैं। वे भी विस्तार, परिधि और दूरी में इसके अनुसार ही हैं।

चुल्लहिमवंत पर्वत के चारों कोणों में स्थित २८ अन्तद्वीपों के नाम इस प्रकार हैं—

संख्या	ईशानकोण	आग्नेयकोण	नैऋत्यकोण	वायव्यकोण
१	एकोरुक	आभासिक	वैषाणिक	नांगेलिक
२	हयकर्ण	गजकर्ण	गोकर्ण	शष्कुलीकर्ण
३	आदर्शमुख	मेघमुख	अयोमुख	गोमुख
४	अश्वमुख	हस्तिमुख	सिंहमुख	व्याघ्रमुख
५	अश्वकर्ण	हरिकर्ण	अकर्ण	कर्णप्रावरण
६	उल्कामुख	मेघमुख	विद्युत्मुख	विद्युदन्त
७	घनदन्त	लष्टदन्त	गूढ़दन्त	शुद्धदन्त

चुल्लहिमवन्त पर्वत के समान ही ऐरावत क्षेत्र की मर्यादा करने वाला शिखरी पर्वत है। वह पर्वत पूर्व पश्चिम में लवण समुद्र को स्पर्श करता है उस पर्वत के पूर्व और पश्चिम के चर-मांत से चारों विदिशाओं में उपरोक्त प्रकार से उपरोक्त नाम

वाले सात-सात अंतरद्वीप हैं। इस प्रकार दोनों पर्वतों की चारों विदिशाओं में छप्पन अन्तरद्वीप हैं। ये अन्तरद्वीप लवण-समुद्र के पानी की सतह से ढ़ाई योजन से कुछ अधिक ऊपर हैं। प्रत्येक अन्तरद्वीप चारों ओर पद्मवर-वेदिका से शोभित हैं और पद्मवर-वेदिका भी वनखण्ड से घिरी हुई है।

इन अन्तरद्वीपों में अन्तरद्वीप के नाम वाले ही युगलिक मनुष्य रहते हैं। इनके वज्रऋषभ-नाराच संहनन और सम-चतुरस्र संस्थान होता है। इनकी अवगाहना आठ सौ धनुष की होती है और आयु पल्योपम के असंख्यात भाग प्रमाण है। इनके शरीर में चौसठ पंसुलियां होती है। छह मास आयु शेष रहने पर वे युगल सन्तान को जन्म देते हैं। ७९ दिन सन्तान का पालन करते हैं। फिर वह युगल संतान बड़ी हो जाती हैं और पति-पत्नी रूप से रहते हैं। वे अल्प कषायी, सरल और संतोषी होते हैं। वहां की आयु भोग कर वे देवलोक में उत्पन्न होते हैं।

लवण समुद्र के बीच में होने से अथवा परस्पर द्वीपों में अन्तर (दूरी) होने से ये 'अन्तरद्वीप' कहलाते हैं। अकर्मभूमि की तरह अन्तरद्वीपों में भी असि, मसि, कृषि—किसी भी प्रकार का कर्म (धन्धा) नहीं होता। यहां भी कल्पवृक्ष होते हैं। अन्तरद्वीपों में रहने वाले मनुष्य 'अन्तरद्वीपक' कहलाते हैं। ये एकांत मिथ्यादृष्टि ही होते हैं।

अब सम्मूर्च्छिम मनुष्य के १०१ भेद बतलाये जाते हैं—

बिना माता-पिता (स्त्री-पुरुष के समागम बिना) ही उत्पन्न होने वाले जीव 'सम्मूर्च्छिम' कहलाते हैं। पैंतालीस

लाख योजन परिमाण मनुष्य क्षेत्र में(अढ़ाईद्वीप और दो समुद्रों में) पन्द्रह कर्मभूमि, तीस अकर्मभूमि और छप्पन अंतरद्वीपों में गर्भज मनुष्य रहते हैं। उनके मलमूत्रादि में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। उनकी उत्पत्ति के स्थान चौदह हैं। यथा--

१ उच्चारेसु—विष्ठा में, २ पासवणेसु--मूत्र में, ३ खेलेसु--कफ में, ४ सिंघाणेसु—नाक के मैल में, ५ वंतेसु—वमन में, ६ पित्तेसु—पित्त में, ७ पूएसु—राध(रसी, चीप)में और दुर्गन्ध युक्त बिगड़े घाव में से निकले हुए खून में, ८ सोणिएसु--शोणित (रक्त)में, ९ सुक्केसु--शुक्र(वीर्य)में, १० सुक्क-पुग्गल-परिसाडेसु—शुक्र के सूखे हुए पुद्गलों के पुनः गीले होने पर उनमें ११ विगय-जीव-कलेवरेसु—जीव रहित शरीर में, १२ इत्थी-पुरिस संजोगेसु--स्त्री-पुरुष के संयोग में, १३ णगरणिद्धमणेसु--नगर की मोरी (गटर) में और १४ सव्वेसु असुइट्ठाणेसु—अशुचि के सभी स्थानों में।

उपरोक्त चौदह स्थानों में एक अन्तर्मुहूर्त में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं। इनकी अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग परिमाण होती है। इनकी आयु अन्तर्मुहूर्त की होती है अर्थात् ये अन्तर्मुहूर्त में ही मर जाते हैं। ये असंज्ञी(मन रहित) मिथ्यादृष्टि एवं अज्ञानी होते हैं, अपर्याप्त अवस्था में ही इनका मरण हो जाता है।

देवों के १९८ भेद

१० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाणव्यन्तर, १० जृम्भक, १० ज्योतिषी, १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक, ९ लोकां-

तिक, ६ ग्रैवेयक, ५ अनुत्तर वैमानिक। ये कुल मिला कर ९९ भेद हुए। इनके अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के १९८ भेद होते हैं।

भवनपति देव

भवनपति देवों के नाम इस प्रकार हैं—१ असुरकुमार, २ नागकुमार, ३ सुवर्ण (सुपर्ण) कुमार, ४ विद्युत्कुमार, ५ अग्निकुमार, ६ द्वीपकुमार, ७ उदधिकुमार, ८ दिशाकुमार, ९ वायुकुमार और १० स्तनितकुमार *।

पन्द्रह परमाधार्मिक देव–घोर पापाचरण करने वाले और क्रूर परिणाम वाले असुर जाति के देव जो तीसरी नरक तक नारकी जीवों को विविध प्रकार के दुःख देते हैं। वे 'परमाधार्मिक' परम अधार्मिक कहलाते हैं। वे पन्द्रह प्रकार के होते हैं। यथा-१ अम्ब, २ अम्बरीष, ३ श्याम, ४ शबल, ५ रौद्र ६ उपरौद्र (महारौद्र), ७ काल, ८ महाकाल, ९ असिपत्र, १० धनुष, ११ कुम्भ, १२ बालुक, १३ वैतरणी, १४ खरस्वर

* ये देव प्रायः भवनों में रहते हैं, इसलिए इन्हें 'भवनपति' या 'भवनवासी' देव कहते हैं। इस प्रकार की व्युत्पत्ति, असुरकुमारों की अपेक्षा समझनी चाहिए, क्योंकि विशेषतः ये ही भवनों में रहते हैं। भवनपति देवों के भवन और आवासों में यह अन्तर होता है कि भवन तो बाहर से गोल और भीतर से चतुष्कोण होते हैं। उनके नीचे का भाग कमल की कर्णिका के आकार वाला होता हैं। शरीर प्रमाण बड़े, मणि तथा रत्नों के दीपकों से चार दिशाओं को प्रकाशित करने वाले मण्डप 'आवास' कहलाते हैं। भवनपति देव भवनों में तथा आवासों में–दोनों में रहते हैं।

और १५ महाघोष। इन परमाधार्मिक देवों के कार्य इस प्रकार है–

१ **अम्ब**–असुर जाति के जो देव, नारक जीवों को ऊँचा आकाश में ले जा कर एकदम नीचे गिरा देते हैं।

२ **अम्बरीष**–जो नारकी जीवों के छुरी आदि से छोटे-छोटे टुकड़े कर के भाड़ में पकने योग्य बनाते हैं।

३ **श्याम**–जो रस्सी या लात घूँसे आदि से नारक जीवों को पीटते हैं और भयंकर स्थानों में डाल देते हैं तथा काले रंग के होते हैं, वे श्याम कहलाते हैं।

४ **शबल**–जो शरीर की आँतें नसें और कलेजे आदि को बाहर खींच लेते हैं तथा शबल अर्थात् चित्तकबरे रंगवाले होते हैं।

५ **रौद्र**–जो भाला में और शक्ति आदि शस्त्रों में नारकी जीवों को पिरो देते हैं। वे बहुत भयंकर होते हैं।

६ **उपरौद्र**–(महारौद्र)–जो नारक जीवों के अंगोपांगों को फोड़ डालते हैं। महाभयंकर होने के कारण उन्हें 'उपरौद्र' या 'महारौद्र' कहते हैं।

७ **काल**–जो नारक जीवों को कड़ाई आदि में पकाते हैं। ये काले रंग के होते हैं।

८ **महाकाल**–जो नारक जीवों के मांस के टुकड़े-टुकड़े करते हैं और उन्हें खिलाते हैं। वे बहुत काले होते हैं।

९ **असिपत्र**–जो वैक्रिय शक्ति द्वारा असि (तलवार) के आकार वाले पत्तों से युक्त वन की विक्रिया कर के उसमें बैठे

हुए नारकी जीवों के ऊपर तलवार सरीखे पत्ते गिराकर तिल-तिल जितने छोटे-छोटे टुकड़े कर डालते हैं।

१० **धनुष**—जो विक्रिया द्वारा निर्मित धनुष से बाण छोड़ कर नारकी जीवों के कान आदि-काट डालते हैं।

११ **कुम्भ**—जो तलवार द्वारा काटे हुए नारकी जीवों को कुम्भियों में पकाते हैं।

१२ **वालुक**— जो वैक्रिय के द्वारा बनाई हुई कदम्ब पुष्प के आकार वाली अथवा वज्र सरीखी बालू—रेत में नारकी जीवों को चनों की तरह भूनते हैं।

१३ **वैतरणी**—जो वैक्रिय के द्वारा गरम किये हुए मांस, रुधिर, राध, ताम्बा, सीसा आदि पदार्थों से उबलती हुई नदी में नारकी जीवों को फैंक कर तैरने के लिए कहते हैं।

१४ **खरस्वर**—जो वज्र सरीखे कांटों वाले शाल्मली वृक्षों पर नारकी जीवों को चढ़ा कर कठोर स्वर करते हुए अथवा करुण रुदन करते हुए नारकी जीवों को खींचते हैं।

१५ **महाघोष**—जो डर से भागते हुए नारक जीवों को पशुओं की तरह बाड़े में बन्द कर देते हैं, तथा जोर से चिल्लाते हुए उन्हें वहीं रोक रखते हैं।

वाणव्यन्तर देव

वाणव्यन्तर देवों के २६ भेद हैं★। यथा–पिशाच आदि आठ

★ ये सभी व्यन्तर देव, मनुष्य क्षेत्रों में इधर-उधर घूमते रहते हैं। ये टूटे-फूटे घर, जंगल, वृक्ष और शून्य स्थानों में रहते हैं।

रत्न प्रभा पृथ्वी के ऊपर के भाग में एक हजार योजन में से सौ

(पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गन्धर्व)। आणपन्ने आदि आठ (आणपन्ने, पाणपन्ने, इसिवाई, भूयवाई, कन्दे, महाकन्दे, कुह्माण्डे, पयंगदेव)। जृम्भक दस (अन्न जृम्भक, पाण जृम्भक, लयन जृम्भक, शयन जृम्भक, वस्त्र जृम्भक, फल जृम्भक, पुष्प जृम्भक, फलपुष्प जृम्भक, विद्या जृम्भक और अग्नि जृम्भक)।

ऊपर बताये हुए छब्बीस भेद वाणव्यन्तर देवों के हैं, किन्तु शास्त्रों में इनके तीन विभाग बताये गये हैं। यथा— जृम्भक पिशाच आदि आठ को 'वाणव्यन्तर' अथवा 'व्यन्तर' कहा गया है। आणपन्ने आदि आठ को 'गन्धर्व' कहा गया है। अन्नजृ भक आदि दस को 'जृम्भक' कहा गया है। वे इस प्रकार हैं-

१ अन्न जृम्भक–भोजन के परिमाण को बढ़ाना, घटाना, सरस करना, नीरस करना आदि शक्ति रखने वाले 'अन्नजृम्भक' कहलाते हैं।

योजन ऊपर और सौ योजन नीचे छोड़ कर बीच के आठ सौ योजन तिर्च्छालोक में वाणव्यन्तर देवों के असंख्यात नगर हैं। वे नगर बाहर से गोल, अन्दर से समचौरस तथा नीचे कमल की कर्णिका के आकार वाले हैं। ये पर्याप्त तथा अपर्याप्त व्यन्तर देवों के स्थान बताये गये हैं। वहाँ आठों प्रकार के वाणव्यन्तर रहते हैं। गन्धर्व नाम के व्यन्तर देव संगीत में बहुत प्रीति रखते हैं। ये सब चपल चित्तवाले तथा क्रीड़ा एवं हास्य प्रिय हैं। वे विविध आभूषणों से अपना शृंगार करते अथवा विविध क्रीड़ाओं में लगे रहते हैं। वे विचित्र चिन्हों वाले, महाऋद्धि-वाले, महाकान्ति वाले, महायश वाले, महाबल वाले, महासामर्थ्य वाले तथा महासुख वाले होते हैं।

२ **पाणजृंभक**–पानी को घटाने या बढ़ाने वाले देव ।
३ **वस्त्रजृंभक**–वस्त्र को घटाने बढ़ाने की शक्ति वाले ।
४ **लयणजृंभक**–घर आदि की रक्षा करने वाले ।
५ **शयनजृंभक**–शय्या आदि की रक्षा करने वाले ।
६ **पुष्पजृंभक**–फूलों की रक्षा करने वाले ।
७ **फलजृंभक**–फलों की रक्षा करने वाले ।
८ **पुष्पफलजृंभक**–फूलों और फलों की रक्षा करने वाले देव । कहीं-कहीं यहाँ 'अन्न जृम्भक' नाम भी मिलता है ।
९ **विद्याजृंभक**–विद्याओं की रक्षा करने वाले देव ।
१० **अव्यक्तजृंभक**–सामान्यरूप से सभी पदार्थों की रक्षा करने वाले देव । कहीं-कहीं 'अधिपति जृंभक'–ऐसा नाम भी है ।

ज्योतिषी देवों के दस भेद हैं–१ चन्द्र, २ सूर्य, ३ ग्रह, ४ नक्षत्र और ५ तारा । इनके चर (अस्थिर) और अचर (स्थर) के भेद से दस भेद हो जाते हैं । ये प्रकाश करते हैं । इसलिए ये ज्योतिषी कहलाते हैं ।

मनुष्य क्षेत्रवर्ती अर्थात् मानुषोत्तर पर्वत तक ढ़ाई द्वीप में रहे हुए ज्योतिषी देव, सदा मेरु पर्वत की प्रदक्षिणा करते हुए चलते रहते हैं । मानुषोत्तर पर्वत के आगे रहने वाले सभी ज्योतिषी देव स्थिर रहते हैं ।

जम्बूद्वीप में दो चन्द्र, दो सूर्य, छप्पन नक्षत्र, एक सौ छिहत्तर ग्रह और एक लाख तेतीस हजार नौ सौ पचास कोड़ाकोड़ी तारे हैं । लवण समुद्र में चार, धातकीखण्ड द्वीप में बारह, कालोदधि समुद्र में बयालीस और अर्द्ध पुष्कर द्वीप में बहत्तर चन्द्र

हैं। इन क्षेत्रों में सूर्य की संख्या भी चन्द्र के समान ही है। इस प्रकार अढ़ाई द्वीप में १३२ चन्द्र और १३२ सूर्य हैं।

एक चन्द्र का परिवार २८ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारा हैं। इस प्रकार ढ़ाई द्वीप में इनसे १३२ गुणा ग्रह, नक्षत्र और तारा हैं।

चन्द्र से सूर्य की गति शीघ्र है। इसी प्रकार सूर्य से ग्रह, ग्रह से नक्षत्र और नक्षत्र से तारा की गति शीघ्र है।

तिच्छ्लिोक में मेरु पर्वत के समभूमि भाग से ७९० योजन से ९०० योजन तक यानी ११० योजन की मोटाई में ज्योतिषी देवों के विमान हैं। समभूमि भाग से ९०० योजन की ऊँचाई तक तिच्छ्ला लोक है। ज्योतिषी देव भी ९०० योजन की ऊँचाई तक ही हैं। इस प्रकार ज्योतिषी देव तिच्छ्ला लोक में हैं। तिच्छ्ला लोक की लम्बाई-चौड़ाई करीब एक रज्जु परिमाण है। जहां लोक का अन्त होता है, वहां से ११११ योजन इधर भीतर की ओर तक ही ज्योतिषी देव हैं अर्थात् ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देव नही हैं। आशय यह है कि ज्योतिषी देवों के जो सब से अन्तिम विमान हैं, उनसे ११११ योजन रूप लोक के अन्तिम भाग में ज्योतिषी देवों के विमान नहीं है।

वैमानिक देव

वैमानिक देवों के दो भेद हैं—कल्पोपपन्न और कल्पातीत। कल्प का अर्थ है—मर्यादा। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि एवं छोटे-बड़े की मर्यादा बन्धी हुई हैं, उन्हें 'कल्पोपपन्न'

कहते हैं। जिन देवों में इन्द्र, सामानिक आदि की एवं छोटे-बड़े की मर्यादा नहीं है, अपितु सभी 'अहमिन्द्र' हैं, वे 'कल्पातीत' कहलाते हैं।

कल्पोपपन्न देवों के बारह भेद हैं—१ सौधर्म, २ ईशान, ३ सनत्कुमार, ४ माहेन्द्र, ५ ब्रह्म, ६ लान्तक, ७ महाशुक्र ८ सहस्रार, ९ आणत, १० प्राणत, ११ आरण और १२ अच्युत।

इन सौधर्म आदि विमानों में वैमानिक देव रहते हैं।

तिर्च्छालोक में मेरु पर्वत के समतल भूमिभाग से डेढ़ रज्जु की ऊँचाई पर सौधर्म और ईशान देवलोक है। ढ़ाई रज्जु पर सनत्कुमार और माहेन्द्र देवलोक हैं। सवा तीन रज्जु पर ब्रह्म देवलोक, साढ़े तीन रज्जु पर लान्तक, पौने चार रज्जु पर महाशुक्र, चार रज्जु पर सहस्रार, साढ़े चार रज्जु पर आणत और प्राणत, पाँच रज्जु पर आर और अच्युत देवलोक हैं। कुछ कम सात रज्जु की ऊँचाई पर लोक का अन्त है। सौधर्म देवलोक से सर्वार्थसिद्ध तक के सभी देवलोकों के ८४९७०२३ विमान हैं। सभी विमान रत्नों के बने हुए स्वच्छ, कोमल, स्निग्ध, घिसे हुए, स्वच्छ, रजरहित, निर्मल, निष्पंक, बिना आवरण की दीप्ति वाले, प्रभा सहित, शोभा सहित, उद्योत सहित, प्रसन्नता उत्पन्न करने वाले, दर्शनीय, अभिरूप और प्रतिरूप हैं। इनमें देव रहते हैं।

सौधर्म देवलोक के देवों के मुकुट में मृग का चिह्न होता है। ईशान में महिषी (भैंस) का, सनत्कुमार में वराह (सूअर) का, माहेन्द्र में सिंह का, ब्रह्म देवलोक में बकरे का, लान्तक

में ढंक का, महाशुक्र में घोड़े का, सहस्रार में हाथी का, आणत में भुजंग का, प्राणत में मेंढे का, आरण में वृषभ का और अच्चुत में बिडिम(एक प्रकार के मृग)का चिन्ह होता है।

प्रथम सौधर्म स्वर्ग में शक्र नाम का इन्द्र है। बत्तीस लाख विमान, चौरासी हजार सामानिक देव, तेतीस गुरुस्थानीय त्रायस्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, आठ अग्र-महिषियाँ, तीन परिषदाएँ, सात अनीकों (सेनाओं) सात अनीकाधिपतियों और तीन लाख छत्तीस हजार आत्मरक्षक देवों तथा बहुत से वैमानिक देव और देवियों का अधिपति है।

दूसरे ईशान देवलोक का स्वामी ईशानेन्द्र है। अट्ठाईस लाख विमान, अस्सी हजार सामानिक देव, तेतीस त्रायस्त्रिंशक देव, चार लोकपाल, आठ अग्रमहिषियाँ, तीन परिषदाओं, सात अनीक, सात अनीकाधिपतियों, तीन लाख बीस हजार आत्मरक्षक देवों तथा दूसरे बहुत-से वैमानिक देव और देवियों का स्वामी है।

सनत्कुमार देवलोक का इन्द्र सनत्कुमार है। बारह लाख विमान, बहत्तर हजार सामानिक देव आदि शक्रेन्द्र के समान जानना चाहिए। यहाँ अग्रमहिषियाँ या देवियाँ नहीं होती। दो लाख अठासी हजार आत्मरक्षक देव होते हैं।

चौथा माहेन्द्र देवलोक का माहेन्द्र नामक इन्द्र है। आठ लाख विमान, सत्तर हजार सामानिक देव तथा दो लाख अस्सी हजार आत्मरक्षक देवों और अन्य देवों का स्वामी है। शेष सारा वर्णन सनत्कुमारेन्द्र के समान जानना चाहिये।

पाँचवें 'ब्रह्म' देवलोक का इन्द्र 'ब्रह्म' है। चार लाख विमान, साठ हजार सामानिक देव, दो लाख चालीस हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत-से वैमानिक देवों का अधिपति है।

छठा लान्तक देवलोक का इन्द्र भी इसी नाम का है। पचास हजार विमान, पचास हजार सामानिक देव, दो लाख आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत-से वैमानिक देवों का स्वामी है।

सातवाँ महाशुक्र देवलोक का स्वामी भी इसी नाम का है। चालीस हजार विमान, चालीस हजार सामानिक देव, एक लाख साठ हजार आत्मरक्षक देव और दूसरे बहुत-से वैमानिक देवों का अधिपति है।

आठवें सहस्रार देवलोक का इन्द्र सहस्रारेन्द्र है। छह हजार विमान, तीस हजार सामानिक देव और एक लाख बीस हजार आत्मरक्षक देव तथा दूसरे बहुत-से वैमानिक देवों का स्वामी है।

नौवें और दसवें देवलोक–आणत और प्राणत का 'प्राणत' नाम का इन्द्र है। दोनों देवलोक का एक ही इन्द्र है। वह चार सौ विमान, बीस हजार सामानिक देव, अस्सी हजार आत्मरक्षक तथा दूसरे बहुत-से वैमानिक देवों का अधिपति है।

ग्यारहवें और बारहवें आरण और अच्युत देवलोक का इन्द्र 'अच्युतेन्द्र' है। तीन सौ विमान, दस हजार सामानिक देव देव और चालीस हजार आत्मरक्षक देवों का अधिपति है।

किल्विषिक देव

किल्विषिक देवों के तीन भेद हैं। जैसे कि–१ त्रिपल्योपमिक २ त्रिसागरिक और ३ त्रयोदश सागरिक। ये नाम उनकी स्थिति

के अनुसार है। जिन किल्विषिक देवों की स्थिति तीन पल्योपम की है वे 'त्रिपल्योपमिक' कहलाते हैं। जिन की स्थिति तीन सागरोपम की होती है वे 'त्रि सागरिक' कहलाते हैं और जिन की स्थिति तेरह सागरोपम की है, वे 'त्रयोदश सागरिक' कहलाते हैं।

वैसे तो भवनपति, वाणव्यन्तर, ज्योतिषी और वैमानिक, चारों ही जाति के देवों में किल्विषिक देव होते हैं। भवनपति, वाणव्यन्तर और ज्योतिषी जाति के किल्विषिक देवों के रहने का कोई पृथक् खास स्थान नियत नहीं है। उपर्युक्त किल्विषिक देव, वैमानिक जाति के है। इनमें से त्रिपल्योपमिक किल्विषिक ज्योतिषी देवों के ऊपर और सौधर्म और ईशान नामक पहले और दूसरे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते है। तीन सागरिक किल्विषिक देव, दूसरे देवलोक से ऊपर सनत्कुमार और माहेन्द्र नामक तीसरे और चौथे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते है और तेरह सागरिक किल्विषिक देव, पांचवें देवलोक के ऊपर और लान्तक नामक छठे देवलोक के नीचे के प्रतर भाग में रहते हैं।

लोकान्तिक देव

लोकान्तिक देवों के नौ भेद है। उनके नाम इस प्रकार हैं—१ सारस्वत, २ आदित्य, ३ वह्नि, ४ वरुण, ५ गर्दतोय, ३ तूषित, ७ अव्याबाध, ८ आग्नेय और ९ अरिष्ठ।

पांचवे देवलोक का नाम 'ब्रह्मलोक' है। लोकान्तिक देव ब्रह्मलोक के अन्त में अर्थात् पास में रहते है। इसलिये इन्हें 'लोकान्तिक' कहते है। अथबा ये देव औदयिक भावरूप भावलोक

के अन्त में स्थित हैं अर्थात् इनके स्वामी देव प्रायः एक भवावतारी होते हैं, इसलिए इन्हें 'लोकान्तिक' कहते हैं।

लोकान्तिक देवों का मान-सत्कार बहुत होता है। इनके मुख्य देव सम्यग्दृष्टि ही होते हैं। तथा सभी लोकान्तिक देव भव्य ही होते हैं। अभवी जीव लोकान्तिक देवों में उत्पन्न नहीं होते। जब तीर्थंकर के दीक्षा लेने का समय आता है, तब ये लौकान्तिक देव, मनुष्य-लोक में आ कर उनसे प्रार्थना करते हैं कि "हे भगवन्! आप दीक्षा धारण कीजिये और जगज्जीवों के कल्याण के लिये धर्म-तीर्थ की स्थापना कीजिये।"

ग्रैवेयक देव

ग्रैवेयक देवों के ९ भेद हैं–१ भद्र, २ सुभद्र, ३ सुजात, ४ सुमनस, ५ सुदर्शन, ६ प्रियदर्शन, ७ अमोघ, ८ सुप्रतिबद्ध और ९ यशोधर।

इन नौ प्रकार के ग्रैवेयक देवों के इन्हीं नाम वाले नौ विमान हैं। उनकी तीन त्रिक हैं अर्थात् तीन-तीन विमान एक-एक पंक्ति में आये हुए हैं। जैसे–पहली त्रिक में भद्र, सुभद्र और सुजात–ये तीन हैं। इस पहली त्रिक में १११ विमान हैं। पहली त्रिक के ऊपर दूसरी त्रिक में सुमनस, सुदर्शन और प्रियदर्शन, ये तीन ग्रैवेयक हैं। इस त्रिक में १०७ विमान हैं। दूसरी त्रिक के ऊपर तीसरी त्रिक है, उसमें अमोघ, सुप्रतिबद्ध और यशोधर–ये तीन ग्रैवेयक हैं। इस त्रिक में १०० विमान हैं।

ग्रैवेयक देवों के विमान, आरण और अच्युत नामक ग्यारहवें और बारहवें देवलोक से असंख्यात योजन ऊपर हैं और तीन

त्रिकों में विभक्त हैं।

अनुत्तर विमान

अनुत्तर विमानवासी देवों के पांच भेद हैं। उनके विमानों के नाम इस प्रकार हैं—१ विजय, २ वैजयन्त, ३ जयन्त, ४ अपराजित और ५ सर्वार्थसिद्ध। इन विमानों में रहने वाले देव भी इन्हीं नाम वाले हैं।

नव ग्रैवेयक विमानों से असंख्यात योजन ऊपर अनुत्तर विमान है।

ये विमान अनुत्तर अर्थात् सर्वोत्तम होते हैं और इन विमानों में रहने वाले देवों के शब्द, रूप, गंध, रस और स्पर्श सर्व श्रेष्ठ होते हैं। इसलिए उनके विमानों को 'अनुत्तर विमान' कहते हैं और उसमें रहने वाले देवों को अनुत्तर विमानवासी देव कहते हैं।

इस प्रकार १० भवनपति, १५ परमाधार्मिक, १६ वाण-व्यन्तर १० जृंभक, १० ज्योतिषी. १२ वैमानिक, ३ किल्विषिक ९ लोकान्तिक, ९ ग्रैवेयक और ५ अनुत्तर वैमानिक–ये कुल मिला कर ९९ भेद हुए। इन ९९ के अपर्याप्त और पर्याप्त के भेद से देवों के १९८ भेद होते हैं।

नारकी के १४, तिर्यंच के ४८, मनुष्य के ३०३ और देव के १९८ इस प्रकार कुल मिला कर जीव के ५६३ भेद होते हैं।

काल चक्र

अवसर्पिणी काल दस कोड़ाकोड़ी सागरोपम[1] का होता है।

---

[1] सागरोपम और पल्योपम का वर्णन काल चक्र वर्णन के बाद दिया गया है।

इसके छह विभाग होते हैं, जिन्हें 'आरा' कहते हैं। वे इस प्रकार हैं—

१ सुषम-सुषमा २ सुषमा ३ सुषम-दुषमा ४ दुषम-सुषमा ५ दुषमा ६ दुषम-दुषमा।

(१) **सुषम-सुषमा**—यह आरा चार कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना तीन कोस की और आयु तीन पल्योपम की होती है। इस आरे में पुत्र-पुत्री युगल रूप से उत्पन्न होते हैं। बड़े हो कर वे ही पति-पत्नी बन जाते हैं। युगल रूप से उत्पन्न होने के कारण इस आरे के मनुष्य 'युगलिया' कहलाते हैं। माता-पिता की आयु जब छह मास शेष रहती है, तब एक युगल (पुत्र-पुत्री का जोड़ा) उत्पन्न होता है। माता-पिता ४९ दिन तक उनकी प्रतिपालना करते हैं। तब तक वे स्वयं जवान हो जाते है और पृथक् विचरण करने लग जाते हैं। आयु समाप्ति के समय माता को छींक और पिता को जंभाई आती है और दोनों एक साथ काल कर जाते हैं। पति का वियोग पत्नी नहीं देखती और पत्नी का वियोग पति नहीं देखता। वे मर कर देवों में उत्पन्न होते हैं। इस आरे के मनुष्य दस प्रकार के वृक्षों* से मनोवांछित सामग्री पाते हैं। तीन दिन के अन्तर से इन्हें आहार की इच्छा होती है। युगलियों के वज्रऋषभ नाराच संहनन और समचतुरस्र संस्थान होता है। इसके शरीर में २५६ पसलियां होती है। युगलिया

---

* इन दस प्रकार के वृक्षों का अर्थ और भेद, कालचक्र के वर्णन के बाद दिया गया है।

असि, मसि और कृषि में से कोई कर्म नहीं करते।

इस आरे में पृथ्वी का स्वाद मिश्री आदि मधुर पदार्थों से भी अधिक स्वादिष्ट होता है। पुष्प और फलों का स्वाद, चक्रवर्ती के श्रेष्ठ भोजन से भी बढ़ कर होता है। भूमि भाग अत्यंत रमणीय होता है और पांच वर्ण वाली विविध मणियों से एवं वृक्षों और पौधों से सुशोभित होता है। सभी प्रकार के सुखों से परिपूर्ण होने के कारण यह आरा 'सुषम-सुषमा' कहलाता है।

(२) **सुषमा**—यह आरा तीन कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों की अवगाहना दो कोस की और आयु दो पल्योपम की होती है। पहले आरे के समान इस आरे में भी युगल धर्म रहता है। पहले आरे के युगलियों से इस आरे के युगलियों में इतना ही अन्तर होता है कि इनके शरीर में १२८ पसलियां होती हैं। माता-पिता बच्चों का ६४ दिन तक पालन-पोषण करते हैं। दो दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। यह आहार भी सुखपूर्ण होता है। शेष सारी बातें स्थूलरूप से पहले आरे जैसी जानना चाहिये। अवसर्पिणी काल होने के कारण इस आरे में पहले की अपेक्षा सभी बातों में क्रमशः हीनता होती जाती है।

(३) **सुषम-दुषमा**- यह आरा दो कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें दूसरे आरे की तरह सुख तो है परन्तु साथ में दुःख भी है। इस आरे के तीन भाग हैं। प्रथम दो भाग में मनुष्यों की अवगाहना एक कोस और स्थिति एक पल्योपम की होती है। इन दोनों भागों में युगालिया उत्पन्न होते हैं।

उनके शरीर में ६४ पसलियाँ होती हैं। माता-पिता ७९ दिन दिन तक बच्चों का पालन-पोषण करते। एक दिन के अन्तर से आहार की इच्छा होती है। पहले-दूसरे आरों के युगलियों की तरह ये भी छींक और जंभाई आने पर काल कर जाते हैं और देवों में उत्पन्न होते हैं। सभी बातें स्थूल रूप से पहले-दूसरे आरे जैसी जाननी चाहिये, किन्तु सभी बातों में पहले की अपेक्षा क्रमशः हीनता होती ही जाती है।

सुषमदुषमा नामक तीसरे आरे के तीसरे भाग में छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना एक हजार धनुष से कम रह जाती है। आयु जघन्य संख्यात वर्ष, उत्कृष्ट असंख्यात वर्ष की होती है। मृत्यु होने पर जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। इस भाग में जीव मोक्ष में भी जाते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के तीसरे आरे के तीसरे भाग की समाप्ति में जब पल्योपम का आठवाँ भाग शेष रह गया, तब उन वृक्षों की शक्ति काल दोष से न्यून हो गई। युगलियों में द्वेष और कषाय की मात्रा बढ़ने लगी और वे आपस में विवाद करने लगे। अपने विवादों का निपटारा कराने के लिये उन्होंने 'सुमति' को स्वामी रूप से स्वीकार किया। सुमति प्रथम कुलकर थे। इनके बाद क्रमशः चौदह कुलकर हुए। पहले पांच कुलकरों के शासन में 'हकार' दण्ड था। अपराधी को 'ह' इतना कह देना ही पर्याप्त था, फिर वह वैसा अपराध नहीं करता था। छठे से दसवें कुलकर तक के शासन में 'मकार' दण्ड था। 'म'—ऐसा मत करो—इतना कह देना ही पर्याप्त था।

फिर वह आगे से वैसा अपराध नहीं करता था। ग्यारहवें से पन्द्रहवें कुलकर तक के शासन में 'धिक्कार' दण्ड था। 'तुमने ऐसा कार्य किया ? तुम्हें धिक्कार है'—इतना कहना ही पर्याप्त था। चौदहवें कुलकर 'नाभि' थे और पन्द्रहवें कुल कर उनके पुत्र श्रीऋषभदेव स्वामी थे। इनकी माता का नाम 'मरुदेवी' था। ऋषभदेव, इस अवसर्पिणी के प्रथम राजा, प्रथम साधु, प्रथम केवली और प्रथम तीर्थंकर थे। इनकी आयु चौरासी लाख पूर्व की थी। इन्होंने बीस लाख पूर्व कुमारावस्था में बिताये और त्रैसठ लाख पूर्व राज्य किया। अपने राज्यशासन काल में इन्होंने प्रजाहित के लिये लेखन गणित आदि ७२ पुरुष-कलाओं और ६४ स्त्री-कलाओं का उपदेश दिया। इसी प्रकार एक सौ शिल्प और असि, मसि, कृषि रूप तीन कर्मों की भी शिक्षा दी। त्रेसठ लाख पूर्व राज्य का उपयोग कर, दीक्षा अंगीकार की। एक हजार वर्ष तक छद्मस्थ रहे, एक हजार वर्ष कम एक लाख पूर्व केवली रहे। चौरासी लाख पूर्व की आयु पूर्ण होने पर मोक्ष पधारे। भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ-पुत्र 'भरत महाराज' इस आरे के प्रथम चक्रवर्ती थे।

४ दुषम-सुषमा—यह आरा बयालीस हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागरोपम का होता है। इसमें मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। अवगाहना बहुत-से धनुषों की होती है और आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट एक करोड़ पूर्व*की होती है। यहां से आयु पूरी कर के जीव स्वकृत कर्मा-

* ७०५६०००००००००० (सत्तर लाख करोड़ वर्ष और

नुसार चारों गतियों में जाते हैं और सिद्ध-गति भी प्राप्त करते हैं।

वर्तमान अवसर्पिणी के इस आरे में तीन वंश उत्पन्न हुए—अरिहन्त वंश, चक्रवर्ती वंश और दशार वंश। इसी आरे में तेईस तीर्थंकर, ११ चक्रवर्ती, ९ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव उत्पन्न हुए। दुःख विशेष और सुख कम होने से इस आरे को 'दुषम-सुषमा' कहते हैं।

(५) **दुषमा**—पांचवें आरे का नाम दुषमा है। यह इक्कीस हजार वर्ष का है। इस आरे में मनुष्यों के छहों संहनन और छहों संस्थान होते हैं। शरीर की अवगाहना सात हाथ तक की होती है। आयु जघन्य अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सौ वर्ष जाजेरी होती है। जीव स्वकृत कर्मानुसार चारों गतियों में जाते हैं। चौथे आरे में उत्पन्न कोई जीव मुक्ति भी प्राप्त कर सकता है, जैसे—जम्बूस्वामी। वर्तमान पंचम आरे के अंतिम दिन का तीसरा भाग बीत जाने पर गण (समुदाय जाति) विवाह आदि व्यवहार, पाखण्ड धर्म, राजधर्म, अग्नि और अग्नि से होने वाली रसोई आदि क्रियाएँ, चारित्रधर्म और गच्छ व्यवहार, इन सभी का विच्छेद हो जायगा। यह आरा दुःख प्रधान है। इसलिए इसे 'दुषमा' कहते हैं।

(६) **दुषम-दुषमा**—अवसर्पिणी काल का दुषमा नामक पांचवां आरा बीत जाने पर अत्यन्त दुःखों से परिपूर्ण 'दुषमदुषमा' नाम का छठा आरा प्रारम्भ होगा। यह आरा इक्कीस हजार वर्ष

छप्पन हजार करोड़ वर्ष) का एक पूर्व होता है।

का है। यह काल मनुष्य और पशुओं के दुःख जनित हाहाकार से व्याप्त होगा। इस आरे के प्रारंभ में धूलिमय भयंकर आंधी चलेगी तथा संवर्तक वायु बहेगी। दिशाएँ धूलि से भरी होगी, इसलिए प्रकाशशून्य होगी। अरस, विरस, क्षार, खात, अग्नि, विद्युत और विषप्रधान मेघ बरसेंगे। प्रलयकालीन पवन और वर्षा के प्रभाव से विविध वनस्पतियाँ और त्रस प्राणी नष्ट हो जायँगे। पहाड़ और नगर, पृथ्वी से मिल जायँगे। पर्वतों में एक वैताढ्य पर्वत स्थिर रहेगा और नदियों में गंगा और सिन्धु नदियाँ रहेंगी। काल के अत्यन्त रूक्ष होने से सूर्य खूब तपेगा और चन्द्रमा अति शीतल होगा। गंगा और सिन्धु नदियों का पट, रथ के चीले जितना अर्थात् पहियों के बीच के अंतर जितना चौड़ा होगा और उनमें रथ की धुरी प्रमाण गहरा पानी होगा। नदियाँ मच्छ-कच्छपादि जलचर जीवों से भरी होगी। भरत और एरवत क्षेत्र की भूमि अंगार, भोभर तथा तपे हुए तवे के समान होगी। ताप में अग्नि जैसी होगी तथा धूल और कीचड़ से भरी होगी। इस कारण प्राणी पृथ्वी पर कष्टपूर्वक चल-फिर सकेंगे। इस आरे के मनुष्यों की उत्कृष्ट अवगाहना एक हाथ की होगी और आयु सोलह तथा बीस वर्ष की होगी। वे अधिक संतान वाले होंगे। इनके वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संहनन संस्थान सभी अशुभ होंगे। शरीर सभी प्रकार से बेडौल होगा। अनेक व्याधियाँ घर किये रहेगी। राग-द्वेष कषाय की मात्रा अधिक होगी। धर्म और श्रद्धा बिलकुल न रहेगी। वैताढ्य पर्वत में गंगा और सिन्धु महानदियों के पूर्व और पश्चिम तट पर ७२ बिल हैं, वे ही इस काल के मनुष्यों के निवास स्थान होंगे। वे लोग सूर्योदय और सूर्यास्त के समय अपने-अपने बिलों

से निकलेंगे और गंगा और सिन्धु महानदियों से मच्छ-कच्छ-पादि पकड़ कर रेत में गाड़ देंगे। शाम के गाड़े हुए मच्छ-कच्छपादि सुबह निकाल कर खायेंगे और सुबह के गाड़े हुए शाम को निकाल कर खायेंगे। वे व्रत-नियम-प्रत्याख्यानादि से रहित, मांस का आहार करने वाले, संक्लिष्ट परिणाम वाले होंगे। वे मर कर प्रायः नरक और तिर्यंच योनि में उत्पन्न होंगे।

उत्सर्पिणी काल

उत्सर्पिणी काल—जिस काल में जीवों के संहनन और संस्थान क्रमशः अधिकाधिक शुभ होते जायँ, आयु और अवगाहना बढ़ती जाय तथा उत्थान, कर्म, बल, वीर्य-पुरुषकार और पराक्रम की वृद्धि होती जाय, वह 'उत्सर्पिणी काल' है। इस काल में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श भी क्रमशः शुभ होते जाते हैं। अवसर्पिणी काल से उत्सर्पिणी काल का प्रभाव उलटा है। इसके भी छह आरे हैं, किन्तु उलटे क्रम से हैं।

सागरोपम—दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है। सागरोपम का स्वरूप समझने के लिए, पहले पल्योपम का स्वरूप समझना आवश्यक है।

पल्योपम—एक योजन लम्बे, एक योजन चौड़े और एक योजन गहरे गोलाकार पल्य (कुआँ) की उपमा से जो काल गिना जाय, उसे 'पल्योपम' कहते हैं।

दस कोड़ाकोड़ी पल्योपम का एक सागरोपम होता है।

कोड़ाकोड़ी-- एक करोड़ को एक करोड़ से गुणा करने पर जितनी संख्या आती है, उसे 'कोड़ाकोड़ी' कहते हैं।

दस प्रकार के वृक्ष—अकर्मभूमि में होने वाले युगलियों के लिए जो उपभोग रूप हो। ऐसे आवश्यक पदार्थों की पूर्ति करने वाले ये दस वृक्ष इस प्रकार हैं--

१. **मतंगा**– शरीर के लिए पौष्टिक रस देने वाले।

२. **भृतंगा**—पात्र आदि देने वाले।

३. **त्रुटितांगा**—वादित्र देने वाले।

४. **दीपांगा**—दीपक का काम देने वाले।

५. **ज्योतिरंगा**—प्रकाश को 'ज्योति' कहते हैं। सूर्य के समान प्रकाश देने वाले। अग्नि को भी ज्योति कहते हैं। अग्नि का काम देने वाले इन वृक्षों को 'ज्योतिरंगा' कहते हैं।

६. **चित्रांगा**—विविध प्रकार के फल देने वाले।

७. **चित्ररसा**–विचित्र एवं विविध प्रकार का भोजन देने वाले

८. **मण्यंगा**—आभूषण देने वाले।

९. **गेहाकारा**– मकान के आकार में परिणत हो जाने वाले (मकान की तरह आश्रय देने वाले)।

१०. **अणियणा** (अनग्ना)—वस्त्रादि देने वाले।

उपरोक्त दस प्रकार के वृक्षों से युगलियों की आवश्यकताएँ पूरी होती हैं।

अंगुल का माप

अंगुल के तीन भेद हैं—१ आत्मांगुल, २ उत्सेधांगुल और ३ प्रमाणांगुल।

१ आत्मांगुल—जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उनके अपने अंगुल को 'आत्मांगुल' कहते हैं। काल के भेद से मनुष्यों की अवगाहना में न्यूनाधिकता होने से इस अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है। जिस समय जो मनुष्य होते हैं, उनके नगर, कानन, उद्यान, वन, तालाब, कूप, मकान आदि उन्हीं के अंगुल से अर्थात् आत्मांगुल से मापे जाते हैं।

२ उत्सेधांगुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल होता है। अथवा इस अवसर्पिणी काल के पाँचवें आरे का आधा भाग अर्थात् साढ़े दस हजार वर्ष बीत जाने पर, उस समय के मनुष्य के अंगुल को उत्सेधांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से नरक, तिर्यंच मनुष्य और देवों की अवगाहना मापी जाती है।

३ प्रमाणांगुल—यह अंगुल सबसे बड़ा होता है। इसलिए इसे प्रमाणांगुल कहते हैं। उत्सेधांगुल से प्रमाणांगुल हजार गुणा बड़ा होता है। इस अंगुल से रत्नप्रभा आदि नरक, भवनपत्तियों के भवन, कल्प (विमान) वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई और परिधि नापी जाती है। शाश्वत वस्तुओं को नापने के लिए चार हजार कोस का एक योजन माना है। इसका कारण यही है कि शाश्वत वस्तुओं के नापने का योजन प्रमाणांगुल से लिया जाता है। प्रमाणांगुल उत्सेधांगुल से हजार गुणा अधिक होता है। इसलिए इस अपेक्षा से प्रमाणांगुल का योजन उत्सेधांगुल के योजन से हजार गुणा बड़ा होता है।

॥ जीव तत्त्व समाप्त ॥

२ अजीव तत्त्व

अजीव–जो चेतना रहित हो, सुख-दुःख का वेदन नहीं करता हो, पर्याप्ति, प्राण, योग, उपयोग और आठ कर्मों से रहित हो तथा जड़ स्वरूप हो, उसे 'अजीव' कहते हैं।

अजीव के दो भेद हैं–रूपी अजीव और अरूपी अजीव।

अरूपी अजीव के दस भेद हैं—१ धर्मास्तिकाय, २ धर्मास्तिकाय के देश, ३ धर्मास्तिकाय के प्रदेश, ४ अधर्मास्तिकाय ५ अधर्मास्तिकाय के देश, ६ अधर्मास्तिकाय के प्रदेश, ७ आकाशास्तिकाय, ८ आकाशास्तिकाय के देश, ९ आकाशास्तिकाय के प्रदेश और १० काल।

रूपी अजीव के चार भेद—१ स्कन्ध, २ देश, ३ प्रदेश और ४ परमाणु-पुद्गल।

सामान्य रूप से अजीव तत्त्व के ये चौदह भेद हैं।

रूपी–जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श पाये जाते हों और जो मूर्त्त हो, उसे 'रूपी द्रव्य' कहते हैं।

रूपी द्रव्य के दो भेद हैं–अष्टस्पर्शी और चतुःस्पर्शी। जिसमें वर्ण, गंध, रस और संस्थान के साथ ये आठ स्पर्श हों;– १ खुरदरा-कर्कश–कठोर, २ सुंहाला–मृदु, कोमल, ३ लघु–हलका, ४ गुरु–भारी, ५ स्निग्ध–चिकना, ६ रूक्ष–रूखा, ७ शीत–ठण्डा, ८ उष्ण–गरम। ये पाये जाते हों, उसे 'अष्टस्पर्शी' रूपी कहते हैं। जिसमें वर्ण, गन्ध, रस के साथ शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष, ये चार स्पर्श पाये जाते हों, उसे

'चतुःस्पर्शी' रूपी कहते हैं*।

अरूपी–जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श नहीं पाये जाते हों तथा जो अमूर्त्त हो, उसे 'अरूपी' कहते हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल–ये अरूपी हैं।

अजीव के सामान्य रूप से उपर्युक्त चौदह भेद हुए। विशेष रूप से अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं। वे इस प्रकार हैं।

अजीव के दो भेद—रूपी और अरूपी। रूपी अजीव के ५३० भेद हैं।

१ परिमण्डल, २ वृत्त, ३ त्र्यस्र, ४ चतुरस्र और ५ आयत। इन पाँच संस्थानों के पाँच वर्ण, २ गन्ध, ५ रस और ८ स्पर्श। पूर्वोक्त पाँचों संस्थानों के प्रत्येक के वर्णादि २० से १०० भेद हुए।

काला, नीला, लाल, पीला और श्वेत–ये पाँच वर्ण हैं। प्रत्येक वर्ण में ५ रस, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान, ये बीस-बीस बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पाँच वर्णों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

सुरभिगन्ध और दुरभिगन्ध–ये दो गन्ध हैं। प्रत्येक गंध में ५ वर्ण, ५ रस, ८ स्पर्श और ५ संस्थान–यों २३–२३ भेद पाये जाते हैं। इस प्रकार दो गन्धों के ४६ भेद होते हैं।

तिक्त, कटु, कषैला, खट्टा और मीठा–इन पाँच रसों में से प्रत्येक में ५ वर्ण, २ गन्ध, ८ स्पर्श और ५ संस्थान–ये बीस-

* द्विस्पर्शी आदि पुद्गल भी होते हैं; किन्तु यहाँ मुख्य रूप से चतुःस्पर्शी अष्टस्पर्शी भेद ही लिये गये हैं—डोशी।

बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार पाँच रसों के (५×२०=१००) सौ भेद होते हैं।

कर्कश, मृदु, हलका, भारी, शीत, उष्ण, स्निग्ध और रूक्ष–इन आठ स्पर्शों में से प्रत्येक स्पर्श में ५ वर्ण, ५ रस, २ गन्ध, ६ स्पर्श और ५ संस्थान–ये–२३–२३ बोल पाये जाते हैं। इस प्रकार आठ स्पर्शों के (८×२३=१८४) एक सौ चौरासी भेद होते हैं।

इस प्रकार संस्थान के १००, वर्ण के १००, गन्ध के ४६, रस के १०० और स्पर्श के १८४। ये सब मिला कर रूपी अजीव के ५६० भेद होते हैं।

अरूपी अजीव के ३० भेद इस प्रकार हैं—

धर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश और प्रदेश। अधर्मास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश और प्रदेश। आकाशास्तिकाय के तीन भेद–स्कन्ध, देश और प्रदेश। ये ९ और एक काल–ये दस भेद होते हैं।

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय और काल, इन चारों को द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण–इन पांच अपेक्षा पहचाना जाता है। इसलिए इन प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद हो जाते हैं। इस प्रकार इन चारों के बीस भेद होते हैं। उपरोक्त १० और ये २०, कुल मिलाकर अरूपी अजीव के ३० भेद होते हैं। द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और गुण, इन पाँच का विवेचन पहले दिया जा चुका है।

रूपी अजीव के ५३० और अरूपी अजीव के ३० ये कुल

मिलाकर अजीव तत्त्व के ५६० भेद होते हैं।

॥ अजीव तत्त्व समाप्त ॥

३ पुण्य तत्त्व

पुण्य—जो आत्मा को पवित्र करे, जिसकी प्रकृति शुभ हो, जो उपार्जन करने में कठिन किन्तु भोगते हुए सुखकारी, दुःख पूर्वक बांधा जाय, किंतु सुखपूर्वक भोगा जाय, शुभयोग से बँधे शुभ उज्ज्वलों पुद्गलों का बन्ध हो जिसका फल मीठा हो, उसे 'पुण्य' कहते हैं। पुण्य, धर्म में सहायक तथा पथ्य रूप होता है। पुण्य नौ प्रकार से बांधा जाता है। यथा—

१ **अन्न पुण्य**—अन्न देने से पुण्य होता है।

२ **पान पुण्य**—पानी देने से पुण्य होता है।

३ **लयन पुण्य**—जगह, स्थान आदि देने से पुण्य होता है।

४ **शयन पुण्य**—शय्या, पाट, पाटला, बाजोट आदि देने से पुण्य होता है।

५ **वस्त्र पुण्य**—वस्त्र देने से पुण्य होता है।

६ **मन पुण्य**—मन को शुभ रखने से अर्थात् दान रूप, शील रूप, तप रूप, भाव रूप और दया रूप आदि शुभ मन रखने से पुण्य होता है।

७ **वचन पुण्य**—मुख से शुभ वचन बोलने से पुण्य होता है।

८ **काय पुण्य**—शरीर से दया पालने, सेवा, विनय, वैयावच्च करने से पुण्य होता है।

९ **नमस्कार पुण्य**—अपने से अधिक गुणवान् को नमस्कार

करने से पुण्य होता है।

यह नौ प्रकार का पुण्य, सुपात्र के विषय में महान् पुण्य उपार्जन करता है और इससे मन्द-मन्दतर पात्रों में परिणामों के अनुसार मन्द-मन्दतर पुण्य होता है।

सातावेदनीय, उच्च गोत्र, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, देवगति, देवानुपूर्वी, पंचेन्द्रिय जाति, औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मण—ये पांच शरीर, औदारिक शरीर, अंगोपाँग, वैक्रिय शरीर अंगोपांग, आहारक शरीर अंगोपांग, वज्र-ऋषभनाराच संहनन, समचतुरस्रसंस्थान, शुभ वर्ण, शुभ गन्ध, शुभ रस, शुभ स्पर्श, अगुरुलघु, पराघात, श्वासोच्छ्वास, आतप, उद्योत, शुभ विहायोगति, निर्माण, त्रस-दशक, देवायु, मनुष्यायु, तिर्यंचायु और तीर्थंकर नामकर्म।

ये पुण्य की बयालीस प्रकृतियाँ है। इनके उदय में आने पर ४२ प्रकार से फल भोगा जाता है।

१ सातावेदनीय—जिस कर्म के उदय से जीव सुख का अनभव करता है।

२ उच्च गोत्र—जिस कर्म के उदय से जीव उच्च कुल में जन्म पाता है।

३ मनुष्य गति—जिस कर्म के उदय से जीव को मनुष्य की गति मिले।

४ मनुष्यानुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से मनुष्य की आनुपूर्वी मिले।

जैसे—इस भव में जो जीव आगे के लिये मनष्य गति में जन्म

लेने का कर्म बाँध चुका है, परन्तु मरणकाल में वह इस शरीर को छोड़ कर विग्रहगति द्वारा दूसरी गति में जाने लगता है, तो मनुष्यानुपूर्वी कर्म उसे खींच कर मनुष्य-गति में ले जाता है। इसी प्रकार देवानुपूर्वी आदि का स्वरूप समझना चाहिये। आनुपूर्वी नामकर्म बैल की नाथ के समान है।

५ देवगति—जिससे जीव को देव का भव मिले।

६ देवानुपूर्वी—जिस कर्म के उदय से जीव को देव की आनुपूर्वी प्राप्त हो।

७ पंचेन्द्रिय जाति—जिस कर्म के उदय से जीव को स्पर्शनेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय और श्रोत्रेन्द्रिय—ये पाँचों इन्द्रियाँ प्राप्त हों।

८ औदारिक शरीर—उदार अर्थात् प्रधान अथवा स्थूल पुद्गलों से बना हुआ शरीर 'औदारिक' कहलाता है। तीर्थंकर भगवान् का शरीर सर्वश्रेष्ठ एवं सर्व प्रधान पुद्गलों से बनता है और सर्व-साधारण का शरीर स्थूल असार पुद्गलों से बना हुआ होता है। अथवा हाड़ मांस, रुधिर आदि से बना हुआ शरीर 'औदारिक शरीर' कहलाता है। मनुष्य, पशु-पक्षी, पृथ्वीकाय आदि का शरीर औदारिक है।

९ वैक्रिय शरीर—जिस कर्म के उदय से वैक्रिय शरीर प्राप्त हो। जिस शरीर से विविध प्रकार के आकार बनाने की क्रियाएँ अथवा विशिष्ट क्रियाएँ होती हैं, 'वैक्रिय शरीर' कहलाता है। जैसे—एक रूप हो कर अनेक रूप धारण करना, अनेक रूप हो कर एक रूप धारण करना, छोटे शरीर से बड़ा शरीर

बनाना और बड़े से छोटा बनाना, पृथ्वी और आकाश में चलने योग्य शरीर धारण करना, दृश्य-अदृश्य रूप बनाना आदि।

१० आहारक शरीर—जिस कर्म के उदय से आहारक शरीर की प्राप्ति हो, उसे 'आहारक नामकर्म' कहते हैं।

प्राणी-दया के लिए, दूसरे द्वीप में रहे हुए तीर्थंकर भगवान् की ऋद्धि ऐश्वर्य देखने के लिये तथा अपना संशय निवारणार्थ उनसे प्रश्न पूछने के लिए, चौदह पूर्वधारी मुनिराज अपनी लब्धि से अति विशुद्ध स्फटिक के सदृश एक हाथ का पुतला (चर्मचक्षु से अदृश्य) अपने शरीर से निकालते हैं और उस पुतले को तीर्थंकर भगवान् या केवली भगवान् के पास भेजते हैं। वह तीर्थंकर भगवान् के पास जा कर अपना कार्य करता है। उसे 'आहारक शरीर' कहते हैं। वे मुनिराज यदि उस लब्धि फोड़ने की आलोचना करे, तो आराधक होते हैं, यदि आलोचना नहीं करें, तो विराधक होते हैं।

११ तैजस् शरीर—जिस कर्म के उदय से तैजस् शरीर की प्राप्ति हो, उसे 'तैजस नामकर्म' कहते हैं। किये हुए आहार को पचा कर रस-रक्त बनाने वाला तथा तपोबल से तेजोलेश्या निकालने वाला शरीर—'तैजस् शरीर' कहलाता है।

१२ कार्मण शरीर—कर्मों से बना हुआ शरीर 'कार्मण' कहलाता है अथवा जीव के प्रदेशों के साथ लगे हुए आठ प्रकार के कर्म पुद्गलों को 'कार्मण शरीर' कहते हैं। (जिस प्रकार बाग

का माली, प्रत्येक क्यारी में पानी पहुँचाता है, उसी प्रकार शरीर के प्रत्येक अवयव में जो रस आदि का परिणमन करता है तथा कर्मों का रस परिणमन कराता है, उसे 'कार्मण शरीर' कहते हैं) यह शरीर ही सभी कर्मों का बीज है।

तैजस् शरीर और कार्मण शरीर—ये दोनों शरीर आदि काल से जीव के साथ लगे हुए हैं। मोक्ष प्राप्त किये बिना ये जीव से पृथक् नहीं होते। जब जीव मरणस्थान को छोड़ कर, उत्पत्ति स्थान को जाता है, तब ये दोनों शरीर जीव के साथ रहते हैं।

१३-१४-१५ अंग, उपांग और अंगोपांग जिन कर्मों से मिलें, उसे 'अंगोपांग नामकर्म' कहते हैं। जानु, भुजा, मस्तक, पीठ आदि 'अंग' हैं और अंगुली आदि 'उपांग' हैं और अंगुलियों की पर्व-रेखा आदि 'अंगोपांग' हैं। ये अंगोपांग औदारिक शरीर, वैक्रिय शरीर और आहारक शरीर—इन तीन शरीरों के होते हैं, तैजस् और कार्मण शरीर के नहीं होते।

१६ वज्रऋषभ-नाराच संहनन—यहाँ 'वज्र' का अर्थ कील है, ऋषभ का अर्थ वेष्टन (पट्टी) है और नाराच का अर्थ दोनों ओर से मर्कट-बन्ध हैं। जिस संहनन में दोनों ओर से मर्कट-बन्ध द्वारा जुड़ी हुई दो हड्डियों पर तीसरी पट्टी की आकृति वाली हड्डी का चारों ओर से वेष्टन हो और इन तीनों हड्डियों को भेदने वाली वज्र नामक हड्डी की कील हो, उसे 'वज्र-ऋषभ-नाराच-संहनन' कहते हैं। मोक्ष जाने वाले जीवों के यही संहनन होता है।

१७ समचतुरस्र संस्थान—'सम' का अर्थ है–समान, 'चतुः' का अर्थ है–चार और 'अस्र' का अर्थ है–कोण। पालथी मार कर बैठने पर जिस शरीर के चारों कोण समान हों अर्थात् आसन और कपाल का अन्तर, दोनों जानुओं का अन्तर, बाएँ कन्धे और दाहिने जानु तथा दाहिने कन्धे और बाएँ जानु का अन्तर समान हो, उसे 'समचतुरस्र संस्थान' कहते हैं। छहों संस्थानों में यह संस्थान सर्वश्रेष्ठ है। तीर्थंकर भगवान् और देवों के यही संस्थान होता है।

१८ शुभ वर्ण—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में हंस आदि की तरह शुक्ल आदि शुभ वर्ण हो, वह 'शुभ वर्ण नामकर्म' कहलाता हैं। श्वेत, लाल, पीला, नीला और काला–ये पाँच वर्ण माने गये हैं। इन्हीं पांचों के संयोग से दूसरे रंग तैयार होते हैं। इनमें से श्वेत, लाल, पीला–ये तीन वर्ण शुभ हैं तथा नीला और काला ये दो वर्ण अशुभ हैं।

१९ सुरभि गन्ध—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में कमल और गुलाब के फूल आदि की तरह शुभ गन्ध हो, उसे 'सुरभिगन्ध नामकर्म' कहते हैं।

दो प्रकार के गन्ध में से सुरभिगंध शुभ है और दुरभिगंध अशुभ है।

२० शुभ रस—जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में आम्रफल आदि के समान मधुर आदि शुभ रस हो, उसे 'शुभ रस नामकर्म' कहते हैं।

तीखा, कड़वा, कषैला, खट्टा और मीठा। पाँच रस में से

कषैला, खट्टा और मीठा, ये तीन शुभ हैं और तीखा तथा कड़वा रस अशुभ है।

२१ शुभ स्पर्श–जिस कर्म के उदय से जीव के शरीर में स्निग्ध आदि शुभ स्पर्श हो, उसे 'शुभ स्पर्श' नामकर्म कहते हैं।

स्पर्श आठ हैं–कर्कश, मृदु, गुरु, लघु, रूक्ष, स्निग्ध, शीत और उष्ण। इन आठ स्पर्श में से मृदु, लघु, स्निग्ध और उष्ण–ये चार स्पर्श शुभ हैं और शेष चार अशुभ हैं।

२२ अगुरुलघु–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर न तो लोहे के समान अत्यन्त भारी हो और न अर्कतूल (आक की रुई) के समान अत्यन्त हल्का हो, अपितु मध्यम दर्जे का हो, उसे 'अगुरुलघु' नाम कर्म कहते हैं।

२३ पराघात—जिस कर्म के उदय से जीव अन्य बलवानों की दृष्टि में अजेय समझा जाता हो, उसे 'पराघात' नाम कर्म कहते हैं।

२४ श्वासोच्छ्वास—जिस कर्म के उदय से जीव श्वासोच्छ्वास ले सके।

२५ आतप—जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर उष्ण न हो कर भी उष्ण प्रकाश करे। सूर्य के मण्डल में रहने वाले पृथ्वीकाय के जीव ऐसे ही हैं। उन्हें 'आतप' नामकर्म का उदय है। वे स्वयं उष्ण न होते हुए भी उष्ण प्रकाश देते हैं।

२६ उद्योत–जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर शीतल प्रकाश करने वाला हो। चन्द्रमंडल, ज्योतिषी चक्र, रत्न प्रकाश, वाली औषधियाँ और लब्धि से वैक्रियरूप धारण

करने वाला शरीर–ये सब 'उद्योत नामकर्म' वाले हैं।

२७ शुभविहायोगति –जिस कर्म के उदय से जीव हंस, हाथी और वृषभ की चाल के समान चले।

२८ निर्माण नामकर्म –जिस कर्म के उदय से जीव के अंगोपांग नियत स्थान पर ही हों। जैसे–चित्रकार, चित्र के यथायोग्य स्थानों में अवयव बनाता है, वैसे ही निर्माण नामकर्म भी शरीर के अवयवों को व्यवस्थित करता है।

जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस-दशक की प्राप्ति हो उसे 'त्रसदशक नामकर्म' कहते हैं। वे त्रस-दशक प्रकृतियाँ ये हैं–त्रस, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय और यश–ये 'त्रसदशक' हैं।

२९ त्रस – जिस कर्म के उदय से जीव को त्रस का शरीर मिले।

३० बादर – जिस कर्म के उदय से जीव का शरीर या शरीर समुदाय छद्मस्थ के दृष्टिगोचर हो सके इतना स्थूल हो।

३१ पर्याप्ति –जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्तियों से पूर्ण हो।

३२ प्रत्येक–जिस कर्म के उदय से एक शरीर का स्वामी एक ही जीव हो।

३३ स्थिर – जिस कर्म के उदय से जीव के दांत, हड्डी, आदि अवयव दृढ़ हों।

३४ शुभ नाम – जिस कर्म के उदय से नाभि के ऊपर का भाग शुभ हो।

३५ सुभग (सौभाग्य)—जिस कर्म के उदय से जीव सभी का प्रेमपात्र हो।

३६ सुस्वर—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर (आवाज) कोयल की तरह मधुर हो।

३७ आदेय—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन लोगों में आदरणीय हो, लोग जिसकी आज्ञा माने।

३८ यश:कीर्ति—जिस कर्म के उदय से लोगों में यश और कीर्ति हो, उसे 'यश:कीर्ति'*नामकर्म कहते हैं।

३९ देवायु–जिस कर्म के उदय से जीव देव-योनि में जाता है।

४० मनुष्यायु—जिस कर्म के उदय से जीव मनुष्य-योनि में जाता है।

४१ तिर्यंचायु—जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंच-योनि में जाता है।

४२ तीर्थंकर—जिस कर्म के उदय से जीव चौंतीस अतिशयों से युक्त हो कर त्रिभुवन का पूज्य होता है।

नौ प्रकार का पुण्य, जीव ने अनन्ती बार किया और तीर्थंकर नामकर्म और आहारक शरीर तथा आहारक अंगोपांग को छोड़कर शेष उनतालीस* प्रकार का पुण्य भी अनन्ती बार उदय

---

* एक दिशा में फैलने वाली प्रशंसा 'कीर्ति' और सभी दिशाओं में फैलने वाली प्रशंसा को 'यश' कहते हैं। अथवा दान और पुण्य से उत्पन्न प्रशंसा 'कीर्ति' है और पराक्रम-पुरुषार्थ से प्राप्त प्रशंसा को 'यश' कहते हैं। वैसे तो कीर्ति और यश एक ही हैं। यह भेद अपेक्षाकृत हैं।

* पूर्व पुस्तक में 'इकतालीस' लिखा, वह अनुचित है—डोशी।

में आया और इस जीव ने इसका भोग भी किया, किन्तु समकित प्राप्त हुए बिना जीव का कार्य सिद्ध नहीं हुआ। अतः जीव को समकित की प्राप्ति के लिए उद्यम करना चाहिये।

॥ पुण्य तत्त्व समाप्त ॥

४ पाप तत्त्व

चारों गति में रहे हुए सभी साँसारिक जीव, प्रत्येक समय नये कर्म बांधते हैं। उनमें अशुभ अध्यवसायों से जो कर्म बँधते हैं, वे पाप रूप होते हैं।

पाप—जो आत्मा को मलीन करे, जो बाँधते समय तो सुखकारी, किन्तु भोगते समय दुःखकारी, अशुभ योग से सुखपूर्वक बाँधा जाय, दुःखपूर्वक भोगा जाय। पाप अशुभ प्रकृति है, जिसका फल कड़वा होता है। जो जीव को मैला करे, उसे 'पाप' कहते हैं।

पाप कर्म अठारह प्रकार से बाँधा जाता है। यथा—

१ प्राणातिपात प्रमादपूर्वक प्राणों का अतिपात करना अर्थात् आत्मा से प्राणों को पृथक् करना–प्राणातिपात (हिंसा) है।

२ मृषावाद—झूठ बोलना जैसे–यह कहना कि आत्मा, पुण्य, पाप, स्वर्ग, नरक आदि नहीं है। तथा आत्मा सर्व व्यापी है, ईश्वर जगत् का कर्त्ता है। कटु सत्य कहना जिससे सुनने वाले को दुःख हो –मृषावाद है। जैसे—काने को काना कहना, चोर को चोर कहना, कोढ़ी को कोढ़ी कहना आदि।

३ अदत्तादान–ग्राम, नगर, वन आदि में रही हुई सचित्त, अचित्त, अल्प, बहु, अणु, स्थूल आदि वस्तु, उसके स्वामी की आज्ञा बिना लेना 'अदत्तादान' है।

४ मैथुन—स्त्री-पुरुष के सहवास को 'मैथुन' कहते हैं। देव सम्बन्धी, मनुष्य सम्बन्धी और तिर्यंच सम्बन्धी—यह तीन प्रकार का मैथुन सेवन करना।

५ परिग्रह—अल्प, बहु, अणु, स्थूल, सचित्त, अचित्त, आदि समस्त द्रव्यों में ममत्व रखना।

६ क्रोध—मोहनीय के उदय से होने वाला, कृत्य-अकृत्य का विवेक हटाने वाला, प्रज्वलन स्वरूप आत्मा के परिणाम को 'क्रोध' कहते हैं। क्रोध वश जीव किसी की बात सहन नहीं करता और बिना विचारे अपने और पराए के अनिष्ट के लिये जलता रहता है।

७ मान—मोहनीय कर्म के उदय से जाति आदि गुणों में अहंकार बुद्धि रूप आत्मा के परिणाम को 'मान' कहते हैं। मान वश जीव में छोटे-बड़े के प्रति उचित आदरभाव नहीं रहता। मानी जीव अपने को बडा समझता है और दूसरों को तुच्छ समझता हुआ उनकी अवहेलना करता है। मान (गर्व) वश वह दूसरों के गुणों को सहन नहीं करता।

८ माया—मोहनीय कर्म के उदय से मन, वचन, काया की कुटिलता द्वारा परवंचना (दूसरों के साथ ठगाई) कपटाई रूप आत्मा के परिणाम विशेष को 'माया' कहते हैं।

९ लोभ–मोहनीय कर्म के उदय से द्रव्यादि विषयक इच्छा,

मूर्च्छा, ममत्वभाव एव तृष्णा अर्थात् असन्तोषरूप आत्मा के परिणाम विशेष को 'लोभ' कहते हैं।

१० राग—माया और लोभ जिसमें अप्रकट रूप से विद्यमान हो, ऐसा आसक्तिरूप जीव का परिणाम 'राग' कहलाता है।

११ द्वेष—क्रोध और मान जिसमें अप्रकट रूप से हो, ऐसा अप्रीतिरूप जीव का परिणाम 'द्वेष' है।

१२ कलह—लड़ाई-झगड़ा करना।

१३ अभ्याख्यान—प्रकटरूप से अविद्यमान दोषों का आरोप लगाना (झूठा आल देना)।

१४ पैशुन्य—पीठ पीछे किसी के दोष प्रकट करना (वे दोष उसमें हों या न हों)।

१५ पर-परिवाद—दूसरे की बुराई करना, निन्दा करना।

१६ रति-अरति—अनुकूल विषयों के प्राप्त होने पर मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो आनन्द रूप परिणाम उत्पन्न होता है, वह 'रति' और प्रतिकूल विषयों में अरुचि-उद्वेग हो, वह 'अरति' है।

१७ मायामृषावाद—माया (कपट) पूर्वक झूठ बोलना 'मायामृषावाद' है। दो दोषों के संयोग से यह पाप-स्थानक माना गया है।

१८ मिथ्यादर्शन शल्य—श्रद्धा का विपरीत होना मिथ्यादर्शन है। जैसे—शरीर में चुभा हुआ शल्य सदा कष्ट देता है। इसी प्रकार मिथ्यादर्शन भी आत्मा को दुःखी बनाये रखता है, इसलिये इसे 'शल्य' कहा है।

इन अठारह स्थानों से बांधा हुआ पाप, बयासी प्रकार से भोगा जाता है। वे बयासी प्रकृतियाँ इस प्रकार हैं—ज्ञानावरणीय की ५, दर्शनावरणीय की ९, वेदनीय की १, मोहनीय की २६, आयुकर्म की १, नामकर्म की ३४, गोत्र कर्म की १ और अन्तराय कर्म की ५। ये सभी ८२ हुई।

इनके भेद इस प्रकार हैं।

ज्ञानावरणीय कर्म के पांच भेद

१ मति ज्ञानावरणीय—मन और पाँच इन्द्रियों के संबंध से जीव को जो ज्ञान होता है, उसे 'मतिज्ञान' कहते हैं। उस ज्ञान का आवरण करने वाले कर्म को 'मति ज्ञानावरणीय' कहते हैं।

२ श्रुत-ज्ञानावरणीय—शास्त्र को 'द्रव्य-श्रुत' कहते हैं और उसके सुनने से जो ज्ञान होता है, उसे 'भाव-श्रुत' कहते हैं। इन दोनों का जो आवरण करता है उसे 'श्रुतज्ञानवरणीय' कहते हैं।

३ अवधिज्ञानावरणीय—अतीन्द्रिय (इन्द्रियों की सहायता के बिना) आत्मा को रूपी पदार्थों का जो मर्यादित ज्ञान होता है उसे 'अवधिज्ञान' कहते हैं। उस ज्ञान को जो आवरण करे उसे 'अवधिज्ञानावरणीय' कहते हैं।

४ मनःपर्याय ज्ञानावरणीय—ढाई द्वीप में रहे हुए संज्ञी पंचेंद्रिय जीवों के मन की बात जिस ज्ञान से जानी जाय, उसे 'मनःपर्याय ज्ञान' कहते हैं। उसे आवरण करने वाला 'मनः-पर्याय ज्ञानावरणीय' कहलाता है।

५ केवल ज्ञानावरणीय—केवल अर्थात् प्रतिपूर्ण। जिसके

समान दूसरा कोई ज्ञान नहीं। लोकालोक की सम्पूर्ण रूपी अरूपी वस्तु को जानने वाला 'केवलज्ञान' कहलाता है। उसका जो आवरण करे, उसे 'केवल ज्ञानावरणीय' कहते हैं।

दर्शनावरणीय की ९ प्रकृतियां

१ चक्षु-दर्शनावरणीय—चक्षु (आँख) से पदार्थों का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'चक्षुदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'चक्षुदर्शनावरणीय' कहलाता है।

२ अचक्षु-दर्शनावरणीय—श्रोत्र, घ्राण, रसना, स्पर्शन और मन के सम्बन्ध से शब्द, गन्ध, रस और स्पर्श का जो सामान्य ज्ञान होता है, उसे 'अचक्षु-दर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'अचक्षुदर्शनावरणीय' कहलाता है।

३ अवधि-दर्शनावरणीय–इन्द्रियों की सहायता के बिना ही रूपी द्रव्य का जिससे सामान्य बोध होता है, उसे 'अवधिदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'अवधिदर्शनावरणीय' है।

४ केवल दर्शनावरणीय— संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का जिनसे सामान्य अवबोध होता है, उसे 'केवलदर्शन' कहते हैं। उसका आवरण करने वाला 'केवल दर्शनावरणीय' है।

५ निद्रा—सोया हुआ मनुष्य जरा-सी खटखटाहट से या आवाज से जाग जाता है, उस नींद को 'निद्रा' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उस कर्म को 'निद्रा' कहते हैं।

६ निद्रानिद्रा—जोर से आवाज देने पर या देह हिलाने से जो मनुष्य कठिनाई से जागता है, उसकी नींद को 'निद्रानिद्रा' कहते हैं।

७ प्रचला—खड़े-खड़े या बैठे-बैठे जिसको नींद आती है, उस नींद को 'प्रचला' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उस कर्म का नाम 'प्रचला' है।

८ प्रचलाप्रचला—चलते-फिरते जिस को नींद आती है, उस नींद को 'प्रचलाप्रचला' कहते हैं। जिस कर्म से ऐसी नींद आवे, उस कर्म को 'प्रचलाप्रचला' कहते हैं।

९ स्त्यानगृद्धि—जो दिन में सोचे हुए काम को रात में निद्रावस्था में कर डालता है, उस नींद को 'स्त्यानगृद्धि' कहते हैं। जिस कर्म के उदय से ऐसी नींद आवे, उसका नाम 'स्त्यानगृद्धि' है। जब स्त्यानगृद्धि कर्म का उदय होता है, तब वज्र-ऋषभ-नाराच संहनन वाले जीव में वासुदेव का आधा बल आ जाता है। यदि उस समय उस जीव की मृत्यु हो जाय और उसने यदि पहले आयु न बांधी हो, तो नरक गति में जाता है।

वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियों में से एक 'असाता-वेदनीय' पाप-प्रकृति है। जिस कर्म के उदय से जीव दुःख का अनुभव करे, उसे 'असाता-वेदनीय' कहते हैं।

मोहनीय कर्म की १६ प्रकृतियाँ—चार कषाय—१ क्रोध, २ मान, ३ माया और ४ लोभ। इन चारों के प्रत्येक के चार-चार भेद हैं—अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन। इस प्रकार कषाय के १६ भेद। नोकषाय के नौ भेद—१ हास्य, २ रति, ३ अरति, ४ भय, ५ शोक, ६ जुगुप्सा, ७ स्त्रीवेद, ८ पुरुषवेद और ९ नपुंसकवेद। और मिथ्यात्व मोहनीय।

नो कषाय के भेदों का अर्थ

१७ हास्य—जिस कर्म के उदय से बिना कारण या कारण-वश हँसी आवे, उसे 'हास्य-मोहनीय' कहते हैं।

१८ रति—जिस कर्म के उदय से अच्छे-अच्छे रुचिकर सांसारिक पदार्थों में अनुराग हो, उसे 'रति-मोहनीय' कहते हैं।

१९ अरति—जिस कर्म के उदय से बुरी चीजों से अरुचि हो, उसे 'अरति-मोहनीय' कर्म कहते हैं।

२० भय—जिस कर्म के उदय से सकारण अथवा अकारण ही मन में भय उत्पन्न हो, उसे 'भय-मोहनीय' कर्म कहते हैं।

२१ शोक—जिस कर्म के उदय से इष्ट वस्तु का वियोग होने पर मन में शोक उत्पन्न हो, उसे 'शोक-मोहनीय' कहते हैं।

२२ जुगुप्सा—जिस कर्म के उदय से दुर्गंधित या बीभत्स पदार्थों को देख कर घृणा उत्पन्न हो, उसे 'जुगुप्सा-मोहनीय' कहते हैं।

२३ स्त्रीवेद—जिस कर्म के उदय से स्त्री को पुरुष से रमण करने की अभिलाषा होती है, उसे 'स्त्रीवेद' कहते हैं।

२४ पुरुषवेद—जिस कर्म के उदय से पुरुष को स्त्री के साथ रमण करने की अभिलाषा होती है, उसे 'पुरुषवेद' कहते हैं।

२५ नपुंसक वेद—जिस कर्म के उदय से नपुंसक को स्त्री और पुरुष दोनों के साथ रमण करने की अभिलाषा होती है, उसे 'नपुंसक-वेद' कहते हैं।

२६ मिथ्यात्व मोहनीय—जिस कर्म के उदय से मिथ्यात्व की प्राप्ति हो, उसे 'मिथ्यात्व मोहनीय' कहते हैं। मिथ्यात्व का

लक्षण इस प्रकार है—

"अदेवे देवबुद्धिर्या, गुरु धीर गुरौ च या ।
अधर्मे धर्म बुद्धिश्च, मिथ्यात्वं तन्निगद्यते ।"

अर्थ—जिसमें देव के गुण न हों, उसे देव मानना, जिसमें गुरु के गुण न हों, उसे गुरु मानना और जिसमें धर्म के लक्षण न हों, ऐसे अधर्म को धर्म मानना मिथ्यात्व है ।

आयु-कर्म की चार प्रकृतियों में से एक नरकायु पाप प्रकृति में है । जिस कर्म के उदय से जीव नरक-योनि में जीवित रहता है, उसे 'नरकायु' कहते हैं ।

नामकर्म की प्रकृतियों में से ३४ पाप प्रकृतियाँ हैं । उनके नाम और अर्थ इस प्रकार है—

१ नरक गति—जिस कर्म के उदय से जीव नरक में जाता है, उसे 'नरक-गति' कहते हैं ।

२ नरकानुपूर्वी—जिस कर्म से जीव को बरबस नरक-गति में लाया जाता है ।

३ तिर्यंचगति—जिस कर्म के उदय से जीव तिर्यंचयोनि में जाता है।

४ तिर्यंचानुपूर्वी—दूसरी गति में जाते हुए जीव को जो बरबस खींच कर तिर्यंच गति में ले जाय ।

५–८ जाति चार–जिस कर्म के उदय से जीव को एकेंद्रिय जाति मिले, उसे 'एकेंद्रिय जाति' नामकर्म कहते हैं, इसी प्रकार बेइंद्रिय, तेइंद्रिय और चौरेंद्रिय जाति नामकर्म समझ लेना चाहिए ।

९ ऋषभ-नाराच-संहनन—हड्डियों की सन्धि में दोनों ओर

से मर्कटबन्ध और उन पर लपेटा हुआ पट्टा हो (लेकिन कील न हो) उसे 'ऋषभ-नाराच संहनन' कहते हैं।

१० नाराच संहनन—दोनों ओर मर्कटबन्ध हो, वह 'नाराच संहनन' है।

११ अर्द्ध-नाराच संहनन—एक ओर मर्कटबन्ध हो और दूसरी ओर खीला हो, उसे 'अर्द्ध-नाराच संहनन' कहते हैं।

१२ कीलिका संहनन—मर्कटबन्ध न हो कर केवल कीलों से ही हड्डियें जुड़ी हुई हों।

१३ छेवट्ट (सेवार्त्त) संहनन—खीला न हो कर केवल हड्डियें परस्पर जुड़ी हुई हों।

१४ न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान—वटवृक्ष को 'न्यग्रोध' कहते हैं। उसका ऊपरी भाग जैसा अति विस्तार युक्त और सुशोभित होता है, वैसा नीचे का भाग नहीं होता। उसी प्रकार नाभि के ऊपर का भाग विस्तृत हो और नाभि से नीचे का भाग वैसा न हो, उसे 'न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान' कहते हैं।

१५ सादि संस्थान—जिस शरीर में नाभि के नीचे का भाग पूर्ण हो और ऊपर का भाग हीन हो।

१६ कुब्ज संस्थान—जिस शरीर में हाथ, पैर, सिर, गर्दन आदि अवयव ठीक हों, परन्तु छाती, पेट, पीठ आदि टेढ़े हों।

१७ वामन संस्थान—जिस शरीर में छाती, पीठ, पेट, आदि अवयव पूर्ण हों, परन्तु हाथ, पैर आदि अवयव छोटे हों।

१८ हुण्डक संस्थान—जिस शरीर के समस्त अवयव बेडौल हों।

१९-२२ अशुभ वर्ण—जिन कर्मों से जीव का शरीर अशुभ वर्ण वाला हो, उसे 'अशुभ वर्ण नामकर्म' कहते हैं। इसी प्रकार अशुभ गन्ध, अशुभ रस और अशुभ स्पर्श नामकर्म भी हैं।

२३ अशुभ विहायोगति—जिस कर्म के उदय से जीव ऊँट या गधे की चाल जैसा चले।

२४ उपघात नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपने ही अवयवों से दुःखी हो। जैसे—प्रतिजिव्हा (पड़जीभ), गण्ड-माला, चोर-दाँत आदि।

२५ स्थावर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से स्थावर शरीर की प्राप्ति हो।

२६ सूक्ष्म नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव को सूक्ष्म (आँख से नहीं दिखने योग्य) शरीर मिले। निगोद के जीव सूक्ष्म शरीर वाले होते हैं।

२७ अपर्याप्त नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव अपनी पर्याप्ति पूरी किये बिना ही मर जावे।

२८ साधारण नामकर्म—जिस कर्म के उदय से अनन्त जीवों को एक शरीर मिले।

२९ अस्थिर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव के मुँह, कान, जीभ, होठ आदि अवयव अस्थिर होते हैं (स्वतः हिलते रहते हैं)।

३० अशुभ नामकर्म—जिस कर्म के उदय से शरीर के अवयव अशुभ होते हैं।

३१ दुर्भग नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव, किसी

का प्रीतिपात्र न हो।

३२ दुःस्वर नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का स्वर सुनने में बुरा लगे।

३३ अनादेय नामकर्म—जिस कर्म के उदय से जीव का वचन लोगों में माननीय न हो।

३४ अयशः कीर्ति नामकर्म—जिस कर्म के उदय से लोक में अपयश एवं अपकीर्ति हो।

गोत्रकर्म की दो प्रकृतियां है। उनमें से एक नीच-गोत्र पापप्रकृति है।

नीचगोत्र—जिस कर्म के उदय से नीचे-कुल में जन्म हो उसे 'नीचगोत्र' कहते हैं।

अन्तरायकर्म की पाँच प्रकृतियाँ हैं।

जो कर्म आत्मा के दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य, रूप शक्तियों का घात करता है, उसे 'अन्तराय कर्म' कहते हैं। यह कर्म भण्डारी के समान है।

१ दानान्तराय—दान की सामग्री तैयार है, गुणवान् पात्र आया हुआ है, दाता दान का फल भी जानता है। इस पर भी जिस कर्म के उदय से जीव दान नहीं दे सकता, उसे 'दानान्तराय कर्म' कहते हैं।

२ लाभान्तराय—योग्य सामग्री के रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती।

३ भोगान्तराय—त्याग-प्रत्याख्यान के न होते हुए तथा भोगने की इच्छा रहते हुए भी जिस कर्म के उदय से जीव विद्य-

मान स्वाधीन भोग सामग्री का कृपणतावश भोग न कर सके।

जो चीज एक बार भोगने में आवे, वह भोग्य वस्तु है, जैसे–पुष्प, फल, अन्न आदि।

४ उपभोगान्तराय—जिस कर्म के उदय से जीव, त्याग-प्रत्याख्यान न होते हुए तथा उपभोग की इच्छा होते हुए भी विद्यमान स्वाधीन उपभोग सामग्री का कृपणतावश उपभोग न कर सके, वह 'उपभोगान्तराय' कर्म है।

जो चीज बार-बार भोगने में आवे (सतत भोगी जाती रहे) उसे 'उपभोग' कहते हैं। जैसे–वस्त्र, आभूषण आदि।

५ वीर्यान्तराय—शरीर नीरोग हो, तरुण अवस्था हो, बलवान हो, फिर भी जिस कर्म के उदय से जीव अपनी शक्ति का विकास न कर सके, वह 'वीर्यान्तराय कर्म' है।

उपरोक्त सभी प्रकृतियों को मिलाने से ८२ होती हैं। ये ८२ प्रकृतियाँ 'पाप प्रकृतियाँ' हैं। इन ८२ प्रकृतियों के द्वारा पाप-कर्म भोगा जाता है।

॥ पाप तत्त्व समाप्त ॥

९ आश्रव तत्त्व

आश्रव—जिनके द्वारा जीव रूपी तालाब में पुण्य-पाप रूपी जल आता रहता है, उस आगमन को, 'आश्रव' कहते हैं। आश्रव के पांच भेद हैं—

१ मिथ्यात्व सेवे सो आश्रव है। मिथ्यात्व के पाँच भेद हैं–

आभिग्रहिक मिथ्यात्व—तत्त्व की परीक्षा किये बिना ही

पक्षपातपूर्वक एक सिद्धांत का आग्रह करना और अन्य पक्ष का खण्डन करना ।। १ ।।

अनाभिग्रहिक मिथ्यात्व—गुण-दोष की परीक्षा किये बिना ही सभी पक्षों को समान समझना ।। २ ।।

आभिनिवेशिक मिथ्यात्व—अपने पक्ष को असत्य मानते हुए भी उसकी स्थापना के लिए दुराग्रह करना ।। ३ ।।

सांशयिक मिथ्यात्व—देव इस स्वरूप वाला होगा, या अन्य स्वरूप वाला ? इसी प्रकार गुरु और धर्म तथा जीवादि तत्त्व के स्वरूप के विषय में सन्देहशील बने रहना ।। ४ ।।

अनाभोगिक मिथ्यात्व—विचार-शून्य एकेंद्रियादि असंज्ञी जीवों को तथा ज्ञान-विकल जीवों को जो मिथ्यात्व होता है, वह 'अनाभोगिक मिथ्यात्व' कहा जाता है।

मोहवश तत्त्वार्थ में श्रद्धा नहीं होना या विपरीत श्रद्धा होना मिथ्यात्व है।

२ अविरति—प्राणातिपात आदि पाप से निवृत्त न होना।

३ प्रमाद—शुभ कार्य में उद्यम न करना 'प्रमाद' कहलाता है। अथवा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप मोक्षमार्ग के प्रति उद्यम न करना 'प्रमाद' कहलाता है।

४ कषाय—जो शुद्ध स्वरूप वाली आत्मा को कलुषित करती है, उसे 'कषाय' कहते हैं। अथवा कष अर्थात् कर्म या संसार की प्राप्ति या वृद्धि जिससे हो, वह 'कषाय' है।

५ योग—मन, वचन, काया की शुभाशुभ* प्रवृत्ति को

* शुभ योग को व्यवहार से संवर माना गया है।

'योग' कहते हैं। अशुभ योग आश्रव है।

प्रकारान्तर से आश्रव के बीस भेद भी होते हैं। यथा—

१ मिथ्यात्व का सेवन करना।
२ अव्रत–पाप-प्रवृत्ति का त्याग-पच्चक्खाण नहीं करना।
३ प्रमाद–पांच प्रमाद का सेवन।
४ कषाय–पच्चीस कषाय का सेवन।
५ अशुभयोग–अशुभ योग प्रवर्तावे।
६ प्राणातिपात–जीवों की हिंसा करे।
७ मृषावाद–झूठ बोले।
८ अदत्तादान–चोरी करे।
९ मैथुन–कुशील सेवे।
१० परिग्रह–धन, धान्य, वस्त्र, भूमि आदि रखे।
११ श्रोत्रेन्द्रिय वश में न रखे।
१२ चक्षुइन्द्रिय वश में न रखे।
१३ घ्राणेन्द्रिय वश में न रखे।
१४ रसनेन्द्रिय वश में न रखे।
१५ स्पर्शनेन्द्रिय वश में न रखे।
१६ मन वश में न रखे।
१७ वचन वश में न रखे।
१८ काया वश में न रखे।
१९ भंड-उपकरण अयतना से लेवे और अयतना से रखे।
२० सूई-कुशाग्र मात्र अयतना से लेवे और अयतना से रखे।

अन्य प्रकार से आश्रव के ४२ भेद भी होते हैं। यथा;—

५ पाँच इन्द्रियों के विषय, चार कषाय, तीन अशुभ योग, पच्चीस क्रियाएँ, पाँच अव्रत (हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन, परिग्रह) ये बयालीस भेद भी होते हैं। पच्चीस क्रियाओं के नाम इस प्रकार हैं—

१ कायिकी—असावधानी पूर्वक शरीर के हलन-चलन आदि से जो क्रिया लगती है।

२ आधिकरणिकी—जिस क्रिया से जीव नरक में जाने का अधिकारी बनता है, उसे 'अधिकरण' कहते हैं। अथवा तलवार आदि घातक शस्त्रों को 'अधिकरण' कहते हैं। ऐसे शस्त्रों को बनाने और संग्रह करने की प्रवृत्ति।

३ प्राद्वेषिकी—जीव या अजीव पर द्वेष करने से जो क्रिया लगती है।

४ पारितापनिकी—दूसरे जीवों को पीड़ा पहुँचाने से तथा अपने ही हाथ से अपना सिर, छाती आदि पीटने से जो क्रिया लगती है।

५ प्राणातिपातिकी—दूसरे प्राणियों के प्राणों का विनाश करने से तथा आत्मघात करने से लगने वाली क्रिया।

६ आरम्भिकी—खेती, घर आदि के कार्य में हल, कुदाल आदि चलाने से अनेक जीवों का विनाश होता है, उससे जो क्रिया लगती है।

७ पारिग्रहिकी—दास, दासी, पशु आदि जीवों तथा धन, वस्त्र, आभूषण घर आदि अजीव पदार्थों का संग्रह करने से एवं उस पर ममत्व करने　　क्रिया लगती है।

८ मायाप्रत्ययिकी—झूठे लेख आदि द्वारा दूसरों को ठगने से जो क्रिया लगती है।

९ मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी—वीतराग भगवान् के वचनों से विपरीत श्रद्धान तथा अश्रद्धान को 'मिथ्यात्व' कहते हैं। उससे लगने वाली क्रिया को 'मिथ्यादर्शन-प्रत्ययिकी क्रिया' कहते हैं।

१० अप्रत्याख्यानिकी—त्याग-पच्चक्खाण नहीं करने से जो क्रिया लगती है।

११ दृष्टिकी—रागद्वेष से कलुषित चित्तपूर्वक किसी जीव या अजीव पदार्थ को देखने से जो क्रिया लगती है।

१२ स्पृष्टिकी—रागादि से कलुषित चित्तपूर्वक स्त्री आदि के अंगों का स्पर्शन करने से जो क्रिया लगती है। अथवा मलिन भावना से जो प्रश्न किया जाता है, उसे 'स्पृष्टिकी क्रिया' कहते हैं।

१३ प्रातीत्यिकी (पाडुच्चिया)—दूसरों के वैभव (हाथी, घोड़े, आभूषण आदि) देख कर राग-द्वेष करने से।

१४ सामन्तोपनिपातिकी—अपने वैभव की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न होने से अथवा घी, तेल आदि के पात्र खुले रखने से उसमें संपातिम जीव गिर कर विनाश को प्राप्त होते हैं, इससे जो क्रिया लगती है।

१५ नैशस्त्रिकी—राजा आदि की आज्ञा से यंत्रों द्वारा कुएँ तालाब आदि से पानी निकाल कर बाहर फेंकने से, क्षेपणी (गोफण) आदि द्वारा पत्थर आदि फेंकने से, स्वार्थवश योग्य शिष्य को या पुत्र को बाहर निकाल देने से, शुद्ध एषणीय भिक्षा

होने पर भी निष्कारण उसे परठा देने से जो क्रिया लगती है।

१६ स्वहस्तिकी—हिरण, खरगोश आदि जानवरों को मारने से या मरवाने से, किसी जीव को अपने हाथ आदि द्वारा ताड़न करने से जो क्रिया लगती है।

१७ आज्ञापनिकी—जीव अथवा अजीव से सम्बन्धित आज्ञा देने से अथवा दूसरे के द्वारा सजीव निर्जीव वस्तु मँगवाने से जो क्रिया लगती है।

१८ वैदारणिकी—जीव और अजीव पदार्थों को चीरने फाड़ने से अथवा बुरी एवं नकली वस्तु को असली तथा अच्छी बतलाने से जो क्रिया लगती है।

१९ अनाभोगिकी—बेपरवाही से चीजों को उठाने रखने से एवं अनुपयोगपूर्वक चलने फिरने से जो क्रिया लगती है।

२० अनवकांक्षाप्रत्ययिकी—इस लोक और परलोक की परवाह न करते हुए, दोनों लोक विरोधी हिंसा, झूठ आदि तथा आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान करने से लगने वाली क्रिया।

२१ प्रायोगिकी—आर्त्तध्यान रौद्रध्यान करना, तीर्थंकरों से निन्दित सावद्य वचन बोलना तथा प्रमादपूर्वक जाना-आना हाथ-पैर फैलाना संकोचना आदि से तथा मन, वचन, काया के व्यापार से लगने वाली क्रिया।

२२ सामुदायिकी—जिस पाप कार्य के द्वारा समुदाय रूप में आठों कर्मों का बन्धन हो तथा सामूहिक रूप से अनेक जीवों के एक साथ कर्म बन्ध हो।

२३ प्रेमप्रत्यया—खुद प्रेम करने से तथा दूसरे को प्रेम उत्पन्न

हो ऐसे माया तथा लोभपूर्वक व्यवहार करने से होने वाली।

२४ द्वेष प्रत्यया – खुद क्रोध करने से अथवा दूसरे को क्रोध उत्पन्न कराने में या अभिमान करने से जो क्रिया लगती है।

२५ ईर्यापथिकी—उपशांत मोह, क्षीणमोह और सयोगी केवली—इन ग्यारहवें, बारहवें और तेरहवें गुणस्थानों में रहे हुए वीतराग महामुनि को मात्र योग के कारण से जो साता-वेदनीय कर्म बन्धता है, उसे 'ईर्यापथिकी क्रिया' कहते हैं। यह क्रिया पहले समय में बँधती है, दूसरे समय में वेदी जाती है और तीसरे समय में उसकी निर्जरा हो जाती है।

आश्रव के ५७ भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—
५ मिथ्यात्व, १२ अव्रत, २५ कषाय और १५ योग।

पाँच मिथ्यात्व ये हैं—आभिग्रहिक, अनाभिग्रहिक, आभिनिवेशिक, सांशयिक और अनाभोगिक।

बारह अव्रत—पाँच इन्द्रियों तथा मन को वश में न रखने से और छह काया की दया—अनुकम्पा न करने से तथा व्रत-पच्चक्खाण न करने से आश्रव होता है।

पच्चीस कषाय—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानावरण और संज्वलन के से सोलह भेद होते हैं। हास्य, रति, अरति, भय, शोक, जुगुप्सा भेद स्त्रीवेद पुरुषवेद और नपुंसकवेद–ये नौ 'नोकषाय' कहलाते हैं।

योग पन्द्रह—मन, वचन, काया के व्यापार को 'योग' कहते हैं। इनमें मन के चार, वचन के चार और काया के सात, इस प्रकार कुल पन्द्रह भेद हो जाते हैं।

॥ आश्रव तत्त्व समाप्त ॥

६ संवर तत्त्व

संवर—आश्रव की रोक को 'संवर' कहते हैं। जीव रूपी तालाब में आश्रव रूपी नालों से कर्म रूपी पानी आवे, उसे व्रत रूपी पाल द्वारा रोकना 'संवर' कहलाता है।

संवर के दो भेद हैं—द्रव्य संवर और भाव संवर। आते हुए नवीन कर्मों को रोकने वाले आत्मा के परिणाम को 'भाव-संवर' कहते हैं और कर्म पुद्गल की रुकावट को 'द्रव्य-संवर' कहते हैं। इसके सामान्य रूप से बीस भेद होते हैं—

१ समकित को धारण करना।
२ व्रत पच्चक्खाण करना।
३ प्रमाद नहीं करे।
४ कषाय नहीं करे।
५ शुभ योग प्रवर्तावे।
६ अप्राणातिपात—जीव की हिंसा नहीं करे।
७ अमृषावाद—झूठ नहीं बोले।
८ अदत्तादान का त्याग—चोरी नहीं करे।
९ मैथुन त्याग—कुशील नहीं सेवे।
१० अपरिग्रह—ममता नहीं रखे।
११–१५ श्रोत्रेंद्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय इन पाँच इन्द्रियों को वश में करें।
१६–१७–१८ मन, वचन और काया को वश में करे।
१९ भण्ड-उपकरण यतना से लेवे, यतना से रखे।
२० सूई-कुशाग्र मात्र यतना से लेवे, यतना से रखे।

प्रकारान्तर से सवर के ५७ भेद भी होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

५ समिति, ३ गुप्ति का पालन करना, २२ परीषहों को जीतना, १० यति धर्म १२ भावना और ५ चारित्र का पालन करना। संवर के ये ५७ भेद होते हैं। अब प्रत्येक का अर्थ बतलाया जाता है।

समिति—आत्मा की यतनापूर्वक सम्यक् प्रवृत्ति को 'समिति' कहते हैं। समिति के पाँच भेद और अर्थ इस प्रकार हैं—

१ ईया समिति—ज्ञान दर्शन और चारित्र के निमित्त, आगमोक्त काल में, युगपरिमाण भूमि को एकाग्र चित्त से देखते हुए यतनापूर्वक गमनागमन करना।

२ भाषा समिति—आवश्यकता होने पर सत्य, हित, मित, निर्दोष और असंदिग्ध भाषा बोलना।

३ एषणा समिति—गवेषण, ग्रहण और ग्रास सम्बन्धी एषणा के दोषों से रहित आहार-पानी आदि ग्रहण करना।

४ आदान-भंड-मात्र निक्षेपणा समिति—आसन, शय्या, संस्तारक, वस्त्र, पात्र आदि उपकरणों को उपयोगपूर्वक देख कर और पूंज कर उठाना और रखना।

५ उच्चार-प्रस्रवण खेल-सिंघाण-जल्ल परिस्थापनिका समिति--स्थण्डिल के दोषों को वर्जते हुए, परिठवने योग्य लघुनीत (मूत्र), बड़ीनीत (मल), थूक, कफ, नाक का मैल आदि निर्जीव स्थान में यतनापूर्वक परिठवना। इसे 'परिस्थापनिका समिति' भी कहते हैं।

गुप्ति—मन, वचन और काया की अशुभ प्रवृत्तियों को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना 'गुप्ति' कहलाता है। गुप्ति के तीन भेद हैं—

१ मन गुप्ति—आर्त्तध्यान, रौद्रध्यान, संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी संकल्प न करना, परलोक में हितकारी धर्मध्यान सम्बन्धी चिन्तन करना, मध्यस्थ भाव रखना, शुभ, अशुभ योगों को रोक कर योग-निरोध अवस्था में होने वाली अन्तरात्मा की अवस्था प्राप्त करना 'मन गुप्ति' है।

२ वचन गुप्ति—वचन के अशुभ व्यापार अर्थात् संरम्भ, समारम्भ और आरम्भ सम्बन्धी वचन का त्याग करना विकथा न करना और मौन रहना 'वचन गुप्ति' है।

३ काय गुप्ति—खड़ा होना, बैठना, उठना, सोना आदि कायिक प्रवृत्ति न करना, यतनापूर्वक काया की प्रवृत्ति करना एवं अशुभ प्रवृत्ति का त्याग करना 'काय गुप्ति' है।

परीषह बाईस हैं, वे इस प्रकार हैं :—

१ क्षुधा परीषह—भूख का परीषह। साधु को मर्यादानुसार एषणीय आहार जब तक न मिले, तब तक ग्रहण न कर के भूख सहन करना।

२ पिपासा परीषह—जब तक निर्दोष अचित्त जल न मिले, तब तक प्यास सहन करता।

३ शीत परीषह—ठंड का परीषह—कितनी ही कड़ी ठण्ड क्यों न पड़ती हों तो भी अपने पास मर्यादित और परिमित वस्त्र हों, उन्हीं से अपना निर्वाह करना। अकल्पनीय वस्त्र

तथा अग्निकाय का आरम्भ करने-कराने की मन से भी इच्छा न करना और समभावपूर्वक शीत को सहन करना।

४ उष्ण परीषह—अत्यन्त गर्मी पड़ती हो, तो भी स्नान की इच्छा न करना, छाता धारण न करना, पंखा एवं वस्त्रादि से हवा न करना और गर्मी को समभावपूर्वक सहन करना।

५ दंश-मशक-परीषह—डांस, मच्छर, खटमल आदि के काटने पर जो वेदना होती है, उसे समभावपूर्वक सहन करना, वेदना के भय से उस स्थान को छोड़ कर दूसरे स्थान पर जाने की इच्छा करना, उनको भगाने लिए धूंए आदि का प्रयोग भी न करना और न किसी से कराना।

६ अचेल परीषह—आगमोक्त साधु की मर्यादानुसार जितने वस्त्र रखने की आज्ञा है, उतने ही वस्त्र रखना, बहुमूल्य वस्त्र न रखना, जो कुछ साधारण या पुराने वस्त्र हों, उनमें सन्तोष करना।

७ अरति परीषह—मन में अरति अर्थात् उदासी से होने वाला कष्ट। स्वीकृत संयम मार्ग में कठिनाइयाँ आने पर उसमें मन न लगे और उसके प्रति अरति उत्पन्न हो, तो धैर्यपूर्वक संयम में मन लगाते हुए अरति को दूर करना।

८ स्त्री परीषह—स्त्रियों के अंग उपांग, आकृति, हास्य, कटाक्ष आदि पर ध्यान न देना, विकार-दृष्टि से उनकी ओर न देखना, ब्रह्मचर्य में दृढ़ रहना, यह स्त्री* परीषह है (यह

* इसी प्रकार स्त्रियों के लिये 'पुरुष परीषह' समझना चाहिये।

९ चर्या परीषह—बहता हुआ जल और विहार करता हुआ साधु स्वच्छ एवं निर्मल रहता है। इसलिए साधु को विशेष कारण के बिना किसी एक स्थान पर मर्यादा से अधिक नहीं ठहरना चाहिए। धर्म का उपदेश देते हुए उसे अप्रतिबद्ध विहार करना चाहिए। विहार के परिश्रम को एवं विहार में होने वाले कष्ट को 'चर्या परीषह' कहते हैं। इसे समभाव से सहन करना चाहिये।

१० निषद्या परीषह—श्मशान, शून्य घर, सिंह की गुफा आदि स्थानों में ध्यान करने के समय विविध उपसर्ग होने पर तथा स्त्री-पशु-पंडक रहित स्थान में, काम-लोलुप स्त्रियों का अनुकूल उपसर्ग होने पर एवं हिंसक प्राणियों का प्रतिकूल उपसर्ग होने पर, समभावपूर्वक सहन करना, किन्तु निषिद्ध चेष्टा न करना 'निषद्या परीषह' है।

११ शय्या परीषह—सोने के लिए ऊँची-नीची कठोर आदि भूमि का योग मिलने पर तथा बिछाने के लिए अल्प वस्त्र होने से नींद में बाधा पहुंचती हो, तो भी मन में उद्वेग न लाना 'शय्या परीषह' है।

१२ आक्रोश परीषह—कोई गाली दे या कटु वचन कहे, तो उसको समभावपूर्वक सहन करना।

१३ वध परीषह—कोई दुष्ट मारे, पीटे या जान से मार डाले तो भी उस पर क्रोध न करते हुए समभावपूर्वक सहन करना।

१४ याचना परीषह—गृहस्थ के द्वारा सामने लाया हुआ आहार, पानी, वस्त्र, पात्रादि न लेते हुए स्वयं भिक्षा मांग कर

संयम-यात्रा का निर्वाह करना, मांगने पर कोई अपमान करे, तो बुरा न मानना और भिक्षा माँगने में लज्जा न करना 'याचना परीषह' है।

१५ अलाभ परीषह—आगमोक्त मर्यादानुसार गोचरी के लिए जाने पर निर्दोष आहार न मिले तथा जिस वस्तु की आवश्यकता है, वह दाता के पास मौजूद होते हुए भी दाता नहीं दे, तो अपने लाभान्तराय कर्म का उदय समझ कर समभावपूर्वक सहना।

१६ रोग परीषह—शरीर में किसी प्रकार का रोग—व्याधि होने पर जिनकल्पी साधु को चिकित्सा कराना नहीं कल्पता है और स्थविरकल्पी साधु को शास्त्रोक्त विधि से निरवद्य चिकित्सा कराना कल्पता है। रोगादि आने पर आर्त्त-ध्यान नहीं करे। अपने किये हुए कर्मों का फल समझ कर वेदना को समभावपूर्वक सहन करना।

१७ तृणस्पर्श परीषह—रोग पीड़ित अवस्था में या वृद्धावस्था में तथा तपश्चर्या आदि कारण विशेष से दर्भ (डाभ) आदि तृणों का बिछौना लगा कर साधु को सोना पड़े और कठोर तृणों के स्पर्श से वेदना होवे या खाज आदि चले, तो उससे उद्विग्न चित्त न होते हुए समभावपूर्वक सहन करना 'तृणस्पर्श' परीषह है। अथवा---बिछाने के लिए कुछ न होने पर तिनकों पर सोते समय पैर में तृण आदि के चुभ जाने से होने वाले कष्ट को समभावपूर्वक सहन करना।

१८ [illegible] परीषह (मल परीषह)---शरीर और वस्त्र

आदि में चाहे जितना मैल संचित हो जाय, तो मन में खेदित न होना तथा स्नान की इच्छा नहीं करना।

१९ सत्कार-पुरस्कार परीषह—लोकसमुदाय द्वारा तथा राजा-महाराजाओं की ओर से स्तुति-नमस्कार एवं आदर-सत्कार होने पर अपने मन में अभिमान न लाना और आदर-सत्कार न पाने से मन में खेदित न होना (यह अनुकूल परीषह है)।

२० प्रज्ञा परीषह - प्रखर विद्वत्ता होने पर भी अभिमान न करना तथा अल्प ज्ञान होने पर भी शोक न करना, किन्तु ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा रखना।

२१ अज्ञान परीषह—बहुत परिश्रम करने पर भी ज्ञान न चढ़े, तो खिन्न न होना, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म का उदय समझ कर अपने चित्त को शान्त रखना।

२२ सम्यक्त्व परीषह—अनेक कष्ट उपसर्ग आने पर भी जिनेश्वर-भाषित धर्म से विचलित न होना। शास्त्रीय सूक्ष्म अर्थ समझ में न आवे तो उदासीन हो कर विपरीत भाव न लाना तथा अन्य मतावलम्बियों के चमत्कार एवं आडम्बर देख कर मोहित न होना।

श्रमणधर्म के दस भेद इस प्रकार हैं—

१ क्षमा—क्रोध पर विजय प्राप्त करना। क्रोध का कारण उपस्थित होने पर भी शान्ति रखना।

२ मार्दव—मान का त्याग करना। जाति, कुल, रूप, ऐश्वर्य, तप, ज्ञान, लाभ और बल—इन आठों में से किसी का भी मद न करना।

३ आर्जव—कपट-रहित होना। माया, दम्भ, ठगी आदि का सर्वथा त्याग करना, सरल होना।

४ मुक्ति-लोभ पर विजय प्राप्त करना, पौद्गलिक वस्तुओं पर आसक्ति न रखना।

५ तप—'इच्छा निरोधस्तपः'—इच्छा को रोकना और कष्ट सहन करना।

६ संयम—मन, वचन, काया की प्रवृत्ति पर अंकुश रखना उनकी अशुभ प्रवृत्ति न होने देना। पांचों इन्द्रियों का दमन, चारों कषायों पर विजय, प्राणातिपात आदि पांच पापों से निवृत्त होना। इस प्रकार संयम १७ प्रकार का है।

७ सत्य—सभी जीवों के लिए सुखकारी, हित, मित, सत्य निर्दोष वचन बोलना।

८ शौच—किसी भी प्राणी को कष्ट न हो—ऐसा वर्ताव करना, मन वचन और काया के व्यवहार को पवित्र रखना।

९ अकिंचनत्व—किसी बस्तु पर मूर्च्छा न रखना, परिग्रह का त्याग करना।

१० ब्रह्मचर्य—नववाड़ सहित पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करना।

बारह भावना इस प्रकार हैं—

१ अनित्य भावना २ अशरण भावना ३ संसार भावना ४ एकत्व भावना ५ अन्यत्व भावना ६ अशुचि भावना ७ आश्रव भावना ८ संवर भावना ९ निर्जरा भावना १० लोक भावना ११ बोधि-दुर्लभ भावना और १२ धर्म भावना।

१ अनित्य भावना—संसार अनित्य है। यहां सभी बस्तुएँ

परिवर्तनशील एवं नश्वर हैं। कोई भी वस्तु शाश्वत दिखाई नहीं देती। इस प्रकार धन, यौवन, कुटुम्ब, शरीर आदि संसार के सभी पदार्थ अनित्य हैं। जो संजोग हैं वे वियोग के लिए हैं—ऐसा विचार करना 'अनित्य भावना' है। अनित्य भावना भरत चक्रवर्ती ने भाइ थी।

२ अशरण भावना—जन्म, जरा, मरण, व्याधि, प्रिय-वियोग, अप्रिय संयोग, दारिद्र्य, दौर्भाग्य आदि क्लेशों में पड़े हुए प्राणी का रक्षक, वीतराग भाषित धर्म के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है। ऐसा चिन्तन करना 'अशरण भावना' है। अशरण भावना अनाथी मुनि ने भाइ थी।

३ संसार भावना—इस संसार में जीव अनादि काल से जन्म मरण आदि विविध दुःखों को सह रहा है। इस प्रकार संसार की अवस्था का विचार करना 'संसार भावना' है। संसार भावना भगवान् मल्लिनाथ ने भाइ थी।

४ एकत्व भावना—यह आत्मा अकेला उत्पन्न होता है और अकेला मरता है। कर्मों का संचय भी यह अकेला करता है और उन्हें भोगता भी अकेला ही है। स्वजन मित्र आदि कोई भी व्याधि, जरा और मृत्यु से उत्पन्न होने वाले दुःख दूर नहीं कर सकते। ऐसा निरन्तर विचार करना 'एकत्व भावना' है। एकत्व भावना नमिराजर्षि ने भाइ थी।

५ अन्यत्व भावना—मैं कौन हूँ? माता-पिता आदि मेरे कौन हैं? इनका सम्बन्ध मेरे साथ कैसे हुआ? इसी प्रकार हाथी, घोड़े, महल, मकान, उद्यान, वाटिका तथा अन्य सुख

ऐश्वर्य की सामग्री मुझे कैसे मिली ? इस प्रकार का चिन्तन इस भावना का विषय है। इसी प्रकार इस शरीर पर भी ममता न करनी चाहिए। यह 'अन्यत्व भावना' है। यह अन्यत्व भावना मृगापुत्रजी ने भाइ थी।

६ अशुचि भावना—यह शरीर, रज और वीर्य जैसे घृणित पदार्थों के संयोग से बना है। माता के गर्भ में अशुचि पदार्थों के आहार के द्वारा इसकी वृद्धि हुई हैं। उत्तम स्वादिष्ट और रसीले पदार्थों का आहार भी इस शरीर में जा कर अशुचि रूप में परिणत होता है। इस प्रकार इस शरीर की अशुचिता का विचार करना 'अशुचि भावना' है। अशुचि भावना सनत्कुमार चक्रवर्ती ने भाइ थी।

७ आस्रव भावना—मन, वचन और काया के शुभाशुभ व्यापार द्वारा जीव जो शुभाशुभ कर्म ग्रहण करते हैं, उसे 'आस्रव' कहते हैं। जिस प्रकार चारों ओर से नदी नालों और झरनों द्वारा आते हुए पानी से तालाब भर जाता है, उसी प्रकार आस्रव द्वारा आत्मा में कर्म रूपी जल आता है और इस कर्म से आत्मा मलीन हो जाता है। इस प्रकार आस्रव भावना का चिन्तन करने से जीव अव्रत आदि का कुपरिणाम समझ लेता है और इनका त्याग कर के व्रत ग्रहण करता है, इन्द्रिय और कषायों का दमन करता है, योग का निरोध करता है और क्रियाओं से निवृत्त होने का प्रयत्न करता है। आस्रव भावना समुद्रपाल मुनि ने भाइ थी।

८ संवर भावना–जिससे कर्मों का आना रुक जाता है, वह

'संवर' है। संवर द्वारा नये कर्मों का आगमन रुक जाता है और आत्मा निर्विघ्न रूप से मुक्ति की ओर बढ़ता रहता है, एवं अन्त में अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार संवर भावना का चिन्तन करने वाला आत्मा संवर क्रियाओं में रुचि रखने लगता है और संवर क्रियाओं का आचरण करता हुआ सिद्धि-पद का अधिकारी होता है। संवर भावना हरिकेशी मुनि ने भाई थी।

९ निर्जरा भावना—संवर भावना द्वारा जीव नवीन कर्मों के आगमन को रोकने वाली क्रियाओं का चिन्तन करता है, परन्तु जो कर्म आत्मा के साथ लगे हुए हैं, उन्हें कैसे नष्ट किया जाय, यह चिन्तन निर्जरा भावना द्वारा किया जाता है। संसार की हेतुभूत कर्म-सन्तति का क्षय करना 'निर्जरा' है। निर्जरा भावना का चिन्तन अर्जुन अनगार ने किया था।

१० लोक भावना—लोक के संस्थान का विचार करना 'लोक भावना' है। कमर पर दोनों हाथ रख कर और दोनों पैरों को फैला कर खड़े हुए पुरुष की आकृति के समान यह लोक है। जिसमें धर्मास्तिकाय आदि छहों द्रव्य भरे हुए हैं। इस प्रकार लोक-भावना का चिंतन करने से तत्त्वज्ञान की विशुद्धि होती है और मन अन्य बाह्य विषयों से हट कर स्थिर हो जाता है। मानसिक स्थिरता द्वारा अनायास ही आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति होती है। लोक-भावना शिवराजर्षि ने भाई थी।

११ बोधि-दुर्लभ भावना—बोधि का अर्थ है 'ज्ञान'। बोधि का अर्थ 'सम्यक्त्व' भी किया जाता है। कहीं बोधि शब्द का

अर्थ 'रत्नत्रय' भी मिलता है। बोधि का अर्थ 'धर्मसामग्री की प्राप्ति' भी किया जाता है। परन्तु यहाँ ज्ञानरूपी आन्तरिक प्रकाश की ही प्रधानता है। इस प्रकार की भावना करने से जीव रत्नत्रय रूप मोक्ष में प्रवृत्त हो कर धीरे-धीरे अपने लक्ष्य की ओर अग्रसर होता जाता है। 'बोधि-दुर्लभ भावना' भगवान् ऋषभदेवजी के ९८ पुत्रों ने भाइ थी।

१२ धर्म भावना—वस्तु के स्वभाव को 'धर्म' कहते हैं। क्षमा आदि दसविध धर्म को भी धर्म कहते हैं। जीवों की रक्षा करना धर्म है और सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रय धर्म है। इसी प्रकार दान, शील, तप और भाव रूप भी धर्म कहा गया है। जिन भगवान् से कहा हुआ उक्त स्वरूप वाला धर्म सत्य है और प्राणियों के लिये परम हितकारी है। इस प्रकार धर्म की भावना से यह आत्मा धर्म से च्युत नहीं होता और धर्मानुष्ठान में तत्पर रहता है। धर्मभावना धर्मरुचि अनगार ने भाइ थी।

इन बारह भावनाओं पर कविवर भूधरदासजी ने जो भावपूर्ण दोहे बनाये हैं, वे इस प्रकार हैं—

१ अनित्य—राजा राणा छत्रपति, हाथिन के असवार।
मरना सब को एक दिन, अपनी-अपनी बार॥

२ अशरण—दल बल देवी देवता, मात-पिता परिवार।
मरती बिरियां जीव को, कोई न राखणहार॥

३ संसार—दाम बिना निर्धन दुःखी, तृष्णा वश धनवान्।
कहुँ न सुख संसार में, सब जग देख्यो छान॥

४ एकत्व–आप अकेला अवतरे, मरे अकेला होय ।
यों कबहु या जीव को, साथी सगा न कोय ।।

५ अन्यत्व–जहां देह अपनी नहीं, तहाँ न अपना कोय ।
घर संपत्ति पर प्रकट ये, पर हैं परिजन लोय ।।

६ अशुचि–दीपे चाम चादर मढ़ी, हाड़ पींजरा देह ।
भीतर या सम जगत में, और नहीं घिन गेह ।।

(सोरठा)

७ आश्रव–मोह नींद के जोर, जगवासी घूमे सदा ।
कर्मचोर चहुँ ओर, सरबस लूटे सुध नहीं ।

८ संवर–सतगुरु देय जगाय, मोह नींद जब उपशमे ।
तब कछु बने उपाय, कर्म-चोर आवत रुके ।।

(दोहा)

९ निर्जरा–ज्ञान दीप तप तेल भर, घर शोधे भ्रम छोर ।
या विधि बिन निकसै नहीं पैठे पूरव चोर ।।
पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच प्रकार ।
प्रबल पंच इन्द्रिय विजय, धार निर्जरा सार ।।

१० लोक–चौदह राजु उत्तंग नभ, लोक पुरुष संठान ।
तामें जीव अनादि से, भरमत है बिन ज्ञान ।।

११ बोधि दुर्लभ–
धन जन कंचन राज सुख, सबहि सुलभ कर जान।
दुर्लभ है संसार में, एक यथारथ ज्ञान ।।

१२ धर्म–जाचे सुरतरु देय सुख, चिन्तित चिन्ता रैन ।
बिन जाचे बिन चिन्तिये, धर्म सकल सुख दैन ।।

चारित्र के पाँच भेद इस प्रकार हैं—

१ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थानीय चारित्र ३ परिहार-विशुद्ध चारित्र, ४ सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र और ५ यथाख्यात चारित्र।

१ सामायिक चारित्र के दो भेद हैं,—१ इत्वर कालिक सामायिक और २ यावत्कथिक सामायिक।

इत्वर कालिक सामायिक–'इत्वर' का अर्थ है–अल्प काल। अर्थात् भविष्य में दूसरी बार फिर सामायिक व्रत का व्यपदेश होने से जो अल्प काल की सामायिक हो, उसे 'इत्वर कालिक सामायिक' कहते हैं। प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् के तीर्थ में जब तक शिष्य में महाव्रत का आरोपण नहीं किया जाता तब तक उसके 'इत्वर कालिक सामायिक' समझना चाहिये।

यावत्कथिक सामायिक–यावज्जीवन की सामायिक,बीच के बाईस तीर्थंकर भगवान्(प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर भगवान् के सिवाय)के साधुओं के एवं महाविदेह क्षेत्र के तीर्थंकर भगवंतों के साधुओं के यावत्कथिक सामायिक होती है, क्योंकि इन तीर्थंकरों के शिष्यों को दूसरी बार सामायिक व्रत नहीं दिया जाता।

२ छेदोपस्थापनीय चारित्र–पूर्व पर्याय का छेद कर जो महाव्रत दिये जाते हैं, उसे 'छेदोपस्थानीय चारित्र' कहते हैं। यह चारित्र भरत ऐरावत क्षेत्र के प्रथम और अन्तिम तीर्थंकर के तीर्थ में ही होता है, शेष तीर्थंकरों के तीर्थ में नहीं होता।

छेदोपस्थापनीय चारित्र के दो भेद हैं—१ निरतिचार छेदोस्थापनीय और २ सातिचार छेदोपस्थापनीय।

निरतिचार छेदोपस्थापनीय—इत्वर सामायिक वाले शिष्य के एवं एक तीर्थंकर के तीर्थ से दूसरे तीर्थंकर के तीर्थ में जाने वाले साधुओं के जो व्रतों का आरोहण होता है, वह 'निरतिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' है। इसे 'बड़ी दीक्षा' कहते हैं। यह सात दिन बाद, चार महीने बाद और उत्कृष्ट छह महीने बाद दी जाती है।

सातिचार छेदोपस्थापनीय—मूल गुणों का घात करने वाले साधु के जो व्रतों का आरोपण होता है, वह 'सातिचार छेदोपस्थापनीय चारित्र' है।

३ परिहार-विशुद्धि चारित्र—जिस चारित्र में परिहार-तप विशेष से कर्मनिर्जरा रूप शुद्धि होती है, उसे 'परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहते हैं। अथवा परिहार-विशुद्धि चारित्र के दो भेद हैं—१ निर्विश्यमानक और २ निर्विष्टकायिक।

तप करने वाले पारिहारिक साधु निर्विश्यमान कहलाते हैं और उनका चारित्र 'निर्विश्यमान परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहलाता है।

तप कर के वैयावच्च करने वाले आनुपारिहारिक साधु तथा तप कर के गुरु पद पर रहा हुआ साधु निर्विष्ट कायिक कहलाते हैं और उनका चारित्र 'निर्विष्टकायिक परिहार-विशुद्धि चारित्र' कहलाता है।

४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र—संपराय का अर्थ 'कषाय' होता है। जिस चारित्र में सूक्ष्म सम्पराय अर्थात् संज्वलन लोभ का सूक्ष्म अंश रहता है, उसे 'सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र' कहते हैं।

सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र के दो भेद हैं— विशुध्यमान और संक्लिश्यमान।

क्षपक-श्रेणी या उपशम-श्रेणी पर चढ़ने वाले साधु के परिणाम उत्तरोत्तर शुद्ध रहने से उनका सूक्ष्म-सम्पराय चारित्र 'विशुध्यमान' कहलाता है।

उपशम-श्रेणी से गिरते हुए साधु के परिणाम संक्लेश युक्त होते हैं, इसलिए उनका सूक्ष्म सम्पराय चारित्र 'संक्लिश्यमान' कहलाता है।

४ यथाख्यात चारित्र—कषाय का सर्वथा उदय न होने से अतिचार रहित—पारमार्थिक रूप से विशुद्ध एव प्रसिद्ध चारित्र 'यथाख्यात चारित्र' कहलाता है। अथवा अकषायी साधु का निरतिचार यथार्थ चारित्र 'यथाख्यात-चारित्र' कहलाता है।

छद्मस्थ और केवली के भेद से यथाख्यात-चारित्र के दो भेद हैं। अथवा उपशांत मोह और क्षीण-मोह, या प्रतिपाति और अप्रतिपाति के भेद से इसके दो भेद हैं।

सयोगी-केवली और अयोगी-केवली के भेद से केवली यथाख्यात चारित्र के दो भेद हैं।

इस प्रकार ५ समिति, ३ गुप्ति, २२ परीषह, १० श्रमण-धर्म, १२ भावना और ५ चारित्र—ये कुल मिलाकर संवर के ५७ भेद हुए।

॥ संवर तत्त्व समाप्त ॥

७ निर्जरा तत्त्व

निर्जरा—आत्मा से कर्म-वर्गणा का एक देशतः दूर होना 'निर्जरा' है। अथवा जीव रूपी कपड़ा, कर्म रूपी मैल, ज्ञान रूपी पानी, तप-संयम रूपी साबुन से धो कर कर्म-मैल को दूर करे, उसे 'निर्जरा' कहते हैं।

निर्जरा के सामान्यतः बारह भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या, रस परित्याग, कायक्लेश, प्रतिसंलीनता। बाह्य तप के ये छह भेद हैं। प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्ग। आभ्यन्तर तप के ये छह भेद हैं।

१ अनशन—अशन, पान, खादिम और स्वादिम—इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अथवा पानी को छोड़ कर तीन आहार का त्याग करना 'अनशन' कहलाता है।

अनशन के मुख्य दो भेद हैं—इत्वरिक अनशन और यावत्कथिक अनशन। अल्पकाल के लिए किये जाने वाले अनशन को 'इत्वरिक अनशन' कहते हैं। इसके चौदह भेद हैं—१ चतुर्थ भक्त, २ षष्ठ भक्त, ३ अष्टम भक्त, ४ दशम भक्त ५ द्वादश भक्त, ६ चतुर्दश भक्त, ७ षोडश भक्त, ८ अर्ध मासिक ९ मासिक, १० द्विमासिक, ११ त्रैमासिक, १२ चातुर्मासिक, १३ पंचमासिक और १४ षाण्मासिक।

यावत्कथिक अनशन के छद भेद हैं—पादपोपगमन, भक्तप्रत्याख्यान, इंगितमरण। इन तीनों के निहारी और अनिहारी ऐसे छह भेद हो जाते हैं।

१ पादपोपगमन—चारों आहार का त्याग कर के अपने शरीर के किसी भी अंग को किंचित्मात्र भी न हिलाते हुए निश्चल रूप से संथारा करना 'पादपोपगमन' कहलाता है।

२ भक्त-प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग कर जो संथारा किया जाता है, उसे 'भक्तप्रत्याख्यान अनशन' कहते हैं। इसी को 'भक्त-परिज्ञा' भी कहते हैं।

३ इंगित मरण—यावज्जीवन चारों प्रकार के आहार का त्याग कर निश्चित स्थान में हिलने-डुलने का आगार रख कर जो संथारा किया जाता है, उसे 'इंगित-मरण' अनशन कहते है।

ये तीनों प्रकार के अनशन (संथारा) निहारी और अनिहारी के भेद से दो प्रकार के होते हैं। निहारी संथारा नगर आदि के भीतर किया जाता है और अनिहारी ग्राम-नगरादि से बाहर किया जाता है।

अनशन तप के दूसरी तरह से और भी भेद किये जाते हैं। इत्वरिक अनशन तप के छह भेद हैं— श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्गवर्ग तप, प्रकीर्णक तप। श्रेणी तप आदि तपश्चर्याएँ भिन्न-भिन्न प्रकार से उपवासादि करने से होती है।

ऊनोदरी—भोजन आदि के परिमाण को और क्रोध आदि के आवेश को कम करना 'ऊनोदरी' तप कहलाता है। ऊनोदरी के दो भेद हैं—द्रव्य ऊनोदरी और भाव ऊनोदरी।

द्रव्य ऊनोदरी–भण्ड-उपकरण और आहार-पानी का शास्त्र में परिमाण बताया गया है, उसमें कमी करना तथा अति सरस और पौष्टिक आहार का त्याग करना 'द्रव्य ऊनोदरी' है।

द्रव्य ऊनोदरी के दो भेद हैं–उपकरण द्रव्य ऊनोदरी और भक्त-पान द्रव्य-ऊनोदरी। उपकरण द्रव्य ऊनोदरी के तीन भेद हैं—एक पात्र, एक वस्त्र और जीर्ण-उपधि। भक्तपान द्रव्य ऊनोदरी के सामान्यतः पाँच भेद हैं–१ आठ कवल (ग्रास) प्रमाण आहार करना अल्पाहार–पौन ऊनोदरी है। २ बारह कबल प्रमाण आहार करना–उपार्द्ध ऊनोदरी है। ३ सोलह कवल प्रमाण आहार करना–अर्द्ध ऊनोदरी है। ४ चौबीस कवल प्रमाण आहार करना-पाव ऊनोदरी है। ५ इकत्तीस कवल प्रमाण आहार करना किंचित् ऊनोदरी है और पूरे बत्तीस कवल प्रमाण आहार करना 'प्रमाणोपेत आहार' कहलाता है।

भाव ऊनोदरी—क्रोध, मान, माया और लोभ में कमी करना, अल्प शब्द बोलना, कषाय के वश हो कर भाषण न करना तथा हृदय में रहे हुए कषाय को शांत करना 'भाव ऊनोदरी' है। इसके सामान्यतः छह भेद हैं—१ अल्प क्रोध, २ अल्प मान, ३ अल्प माया, ४ अल्प लोभ, ५ अल्प शब्द और ६ अल्प झञ्झ (कलह)।

भिक्षाचर्या—विविध प्रकार का अभिग्रह ले कर भिक्षा का संकोच करते हुए विचरना 'भिक्षाचर्या तप' है। सामान्यतः इसके तीस भेद हैं—

द्रव्य—किसी द्रव्य विशेष का अभिग्रह ले कर भिक्षाचर्या करना।

क्षेत्र—स्वग्राम और पर-ग्राम से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।

काल—प्रातःकाल या मध्यान्ह में भिक्षाचर्या करना।

भाव—गाना, हँसना आदि क्रियाओं में प्रवृत्त पुरुष से भिक्षा लेने का अभिग्रह करना।

उत्क्षिप्त-चरक—गृहस्थ ने अपने प्रयोजन से भोजन के पात्र से आहार बाहर निकाला हो, उसकी गवेषणा करना।

निक्षिप्त चरक—भोजन के पात्र से बाहर न निकाले हुए आहार की गवेषणा करना।

उत्क्षिप्त-निक्षिप्त चरक—भोजन के पात्र से उद्धृत और अनुद्धृत (बाहर न निकाले हुए) दोनों प्रकार के आहार की गवेषणा करना।

निक्षिप्त-उत्क्षिप्त-चरक—पहले भोजन के पात्र में डाले हुए और फिर अपने लिए बाहर निकाले हुए आहारादि की गवेषणा करना।

वर्त्यमान चरक—गृहस्थ के लिए थाली परोसे हुए आहार की गवेषणा करना।

साहरिज्जमाण चरक—कूरा (एक प्रकार का धान्य) जो ठण्डा करने के लिए थाली आदि में डाल कर वापिस भोजन पात्र में डाल दिया गया हो, ऐसे आहार की गवेषणा करना।

उपनीत चरक—दूसरे साधु द्वारा अन्य साधु के लिये लाये हुए आहार की गवेषणा करना।

अपनीत चरक—पकाने के पात्र से निकाल कर दूसरे स्थान पर रखे हुए पदार्थ की गवेषणा करना।

उपनीतापनीत चरक—उपरोक्त दोनों प्रकार के आहार की

गवेषणा करना। अथवा दाता द्वारा उस पदार्थ के गुण और अवगुण सुन कर फिर ग्रहण करना अर्थात् एक ही पदार्थ की एक गुण से तो प्रशंसा और दूसरे गुण की अपेक्षा दूषण सुन कर फिर लेना। जैसे–'यह जल ठण्डा तो है, किन्तु खारा है,' इत्यादि।

अपनीतोपनीत चरक—मुख्य रूप से अवगुण और सामान्य रूप से गुण सुन कर फिर उस पदार्थ को लेना। जैसे यह जल खारा है, परन्तु ठण्डा है। इत्यादि।

संसृष्ट चरक—उसी पदार्थ से भरे हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना।

असंसृष्ट चरक—बिना भरे (लिप्त) हुए हाथ से दिये जाने वाले आहार की गवेषणा करना।

तज्जातसंसृष्ट चरक—भिक्षा में दिये जाने वाले पदार्थ के समान (अविरोधी) पदार्थ भरे हुए हाथ से दिये जाने वाले पदार्थ की गवेषणा करना।

अज्ञात चरक—अपना परिचय दिये बिना आहारादि की गवेषणा करना।

मौन चरक—मौन धारण कर के आहारादि की गवेषणा करना।

दृष्ट-लाभिक—दृष्टिगोचर होने वाले आहार की गवेषणा करना। अथवा सर्व प्रथम दृष्टि गोचर होने वाले दाता से ही भिक्षा लेना।

अदृष्ट-लाभिक—अदृष्ट अर्थात् पर्दे आदि के भीतर रहे आहार की गवेषणा करना। अथवा पहले नहीं देखे हुए दाता

से आहारादि लेना।

पृष्ट-लाभिक—'हे मुनि ! आपको किस वस्तु की आवश्यकता है ?' इस प्रकार प्रश्न पूछने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना।

अपृष्ट लाभिक—किसी प्रकार का प्रश्न नहीं पूछने वाले दाता से ही आहारादि की गवेषणा करना।

भिक्षा-लाभिक–रूखे-सूखे तुच्छ आहार की गवेषणा करना।

अभिक्षा-लाभिक - सामान्य आहार की गवेषणा करना।

अन्नग्लायक—अन्न के बिना ग्लानि पाना अर्थात् अभिग्रह विशेष के कारण प्रातःकाल ही आहार की गवेषणा करना।

औपनिहितक—निकट रहने वाले दाता से आहारादि की गवेषणा करना।

परिमित-पिण्डपातिक—परिमित आहारादि की गवेषणा करना।

शुद्धैषणिक—शंकादि दोष रहित शुद्ध एषणापूर्वक कूरा आदि तुच्छ अन्नादि की गवेषणा करना।

संख्यादत्तिक–बीच में धार न टूटते हुए एक बार में जितना आहार या पानी पात्र में गिरे, उसे 'दत्ति' कहते हैं। ऐसी दत्तियों की संख्या का नियम कर के भिक्षा की गवेषणा करना।

उववाई सूत्र में इनका विस्तृत वर्णन एवं भेद आदि दिये गये हैं। यहाँ आहार के विषय में कहा गया है, इसी प्रकार साधु के लिए संयमोपकारी सभी धर्मोपकरणों के विषय में यथायोग्य समझ लेना चाहिये।

रस-त्याग—विकारजनक दूध, दही, घी आदि विगयों का तथा प्रणीत (स्निग्ध और गरिष्ठ) खान पान की वस्तुओं का त्याग करना 'रस त्याग' है। जिव्हा के स्वाद को छोड़ना 'रस त्याग' है। इसके अनेक भेद हैं। किन्तु सामान्यतः नौ भेद हैं—

१ प्रणीत रस परित्याग—जिसमें घी आदि की बूंदे टपक रही हो, ऐसे आहार का त्याग करना।

२ आयंबिल—भात, उड़द आदि से आयंबिल तप करना।

३ आयामसियभोजी—चावल आदि के पानी में गिरे हुए धान्य आदि का आहार करना।

४ अरसाहार—नमक-मिर्च आदि मसालों के बिना रस-रहित आहार करना।

५ विरसाहार—जिनका रस चला गया हो, ऐसे पुराने धान्य या भात आदि का आहार करना।

६ अन्ताहार—जघन्य अर्थात् जो आहार बहुत गरीब लोग करते हैं, ऐसे चने-चबीने आदि खाना।

७ प्रान्ताहार—गृहस्थों के भोजन कर लेने के बाद बचा हुआ आहार ले कर खाना।

८ रूक्षाहार—बहुत रूखा-सूखा आहार करना। कहीं-कहीं 'रूक्खाहार' के स्थान 'तुच्छाहार' पाठ है, इसका अर्थ है—तुच्छ, सत्त्वरहित, निःसार आहार करना।

९ निर्विगय—तेल, घी, गुड़ आदि विगयों से रहित आहार करना।

इस प्रकार रस-परित्याग के और भी अनेक भेद हो सकते

हैं। यहां नौ भेद ही दिये गये हैं।

कायाक्लेश—शास्त्रसम्मत रीति से शरीर को क्लेश पहुँचना 'कायाक्लेश' तप है। उग्र वीरासनादि आसनों का सेवन करना, लोच करना, शरीर की शोभा-शुश्रूषा का त्याग करना आदि कायाक्लेश के अनेक भेद हैं। सामान्यतः इसके तेरह भेद इस प्रकार हैं—

१ स्थानस्थितिक—कायोत्सर्ग कर के निश्चल बैठना।

२ स्थानातिग—आसन विशेष से बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

३ उत्कुटुकासनिक—उक्कडु आसन से बैठ कर कायोत्सर्ग करना।

४ प्रतिमास्थायी—एक मासिकी पडिमा, दो मासिकी पडिमा आदि स्वीकार कर के विचरना।

५ वीरासनिक—सिंहासन अर्थात् कुर्सी पर बैठे हुए पुरुष के नीचे से कुर्सी निकाल देने पर जो अवस्था रहती है, वह 'वीरासन' कहलाता है। ऐसे आसन से बैठना।

६ नैषधिक—निषद्या (आसन विशेष) से भूमि पर बैठ कर कायोत्सर्ग आदि करना।

७ दंडायतिक--लम्बे डण्डे की तरह भूमि पर लेट कर कायोत्सर्ग आदि करना।

८ लगण्डशायी—जिस आसन में पैरों की दोनों एड़ियाँ और सिर पृथ्वी पर लगा हों और शेष शरीर ऊपर उठा रहे, इस प्रकार टेढ़ी लकड़ी की तरह के आसन को 'लगण्ड आसन' कहते हैं। इस प्रकार के आसन से रह कर कायोत्सर्ग आदि तप करना।

९ आतपक–शीतकाल में शीत में बैठ कर और उष्ण काल में सूर्य की प्रचण्ड धूप में बैठ कर आतापना लेना।

१० अपावृत्तक–खुले मैदान में आतापना लेना।

११ अकण्डूयक--शरीर को न खुजलाते हुए आतापना लेना।

१२ अनिष्ठीवक–निष्ठीवन (थूकना) आदि न करते हुए आतापना लेना।

१३ धुतकेशश्मश्रुलोम– दाढ़ी, मूंछ आदि के केशों को न संवारते हुए (अपने शरीर की विभूषा को छोड़ कर) आतापना लेना।

इत्यादि प्रकार से कायक्लेश के अनेक भेद हैं। अब प्रतिसंलीनता का वर्णन किया जाता है।

प्रतिसंलीनता–प्रतिसंलीनता का अर्थ है–गोपन करना। इसके मुख्य रूप से चार भेद हैं–१ इन्द्रियप्रतिसंलीनता, २ कषायप्रतिसंलीनता, ३ योगप्रतिसंलीनता और ४ विविक्त शय्यासनता

१ इन्द्रिय प्रतिसंलीनता के पांच भेद हैं, यथा—

१ श्रोत्रेन्द्रिय प्रतिसंलीनता–श्रोत्रेन्द्रिय को अपने विषयों की ओर जाने से रोकना। तथा श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा गृहित विषयों में रागद्वेष न करना। इसी प्रकार २ चक्षुरिन्द्रिय प्रतिसंलीनता, ३ घ्राणेन्द्रिय प्रतिसंलीनता, ४ रसनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता और ५ स्पर्शनेन्द्रिय प्रतिसंलीनता।

२ कषाय प्रतिसंलीनता। इसके चार भेद हैं, यथा—

१ क्रोध प्रतिसंलीनता--क्रोध का उदय न होने देना तथा उदय में आये हुए क्रोध को निष्फल बना देना। इसी प्रकार

२ मान प्रतिसंलीनता, ३ माया प्रतिसंलीनता और ४ लोभ प्रतिसंलीनता।

३ योग प्रतिसंलीनता। इसके तीन भेद हैं, यथा—

१ मन प्रतिसंलीनता--मन की अकुशल (अशुभ) प्रवृत्ति रोकना तथा कुशल प्रवृत्ति करना और चित्त को एकाग्र--स्थिर करना। इसी प्रकार २ वचन प्रतिसंलीनता और ३ काया प्रतिसंलीनता–अच्छी तरह समाधिपूर्वक शांत हो कर, हाथ-पैर संकुचित कर के, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय हो कर स्थिर होना।

४ विविक्त-शय्यासनता--स्त्री, पशु और नंपुसक से रहित स्थान में निर्दोष शयन आदि उपकरणों को स्वीकार कर के रहना। आराम (बगीचा) उद्यान आदि में संथारा अंगीकार करना भी विविक्त-शय्यासनता कहलाती है।

इस प्रकार प्रतिसंलीनता के कुल १३ भेद हैं। ये बाह्यतप के भेद हुए। अब आभ्यन्तर तप का वर्णन किया जाता है—

आभ्यन्तर तप--जिस तप का सम्बन्ध आत्मा के भावों से हो। इसके छह भेद हैं--१ प्रायश्चित्त, २ विनय, ३ वैयावृत्य, ४ स्वाध्याय, ५ ध्यान और ६ व्युत्सर्ग।

प्रायश्चित्त--जिनसे मूल-गुण और उत्तर-गुण विषयक अतिचारों से मलिन आत्मा शुद्ध हो। अथवा 'प्रायः' का अर्थ 'पाप और 'चित्त' का अर्थ है 'शुद्धि'। जिस अनुष्ठान से पाप की शुद्धि हो, उसे 'प्रायश्चित्त' कहते हैं। प्रायश्चित्त के ५० भेद इस प्रकार हैं--दस प्रकार का प्रायश्चित्त, प्रायश्चित्त देने वाले के दस गुण, प्रायश्चित्त लेने वाले के दस गुण,प्रायश्चित्त के दस

दोष, प्रायश्चित्त सेवन करने के दस कारण। ये सभी मिलाकर प्रायश्चित्त के ५० भेद हुए।

प्रायश्चित्त के दस भेद—

१ आलोयणारिहे. २ पडिक्कमणारिहे, ३ तदुभयारिहे, ४ विवेगारिहे, ५ विउस्सग्गारिहे, ६ तवारिहे, ७ छेदारिहे, ८ मूलारिहे, ९ अणवट्ठप्पारिहे और १० पारंचियारिहे।

१ आलोचनार्ह—संयम में लगे हुए दोष को गुरु के समक्ष स्पष्ट वचनों से सरलतापूर्वक प्रकट करना 'आलोचना' है।

२ प्रतिक्रमणार्ह—प्रतिक्रमण के योग्य, प्रतिक्रमण अर्थात् दोष से पीछे हटना एवं किये हुए पाप के लिए 'मिच्छामि दुक्कडं' कहना।

३ तदुभयार्ह—जो दोष आलोचना और प्रतिक्रमण दोनों से शुद्ध किया जाने योग्य हो।

४ विवेकार्ह—जो प्रायश्चित्त आधाकर्म आदि दोष युक्त आहारादि का विवेक अर्थात् त्याग करने से शुद्ध हो जाय।

५ व्युत्सर्गार्ह—जिस दोष की शुद्धि कायोत्सर्ग करने से हो जाय।

६ तपार्ह--जिस दोष की शुद्धि तप से हो।

७ छेदार्ह—जिस दोष की शुद्धि दीक्षापर्याय का छेद करने से हो।

८ मूलार्ह--ऐसा दोष जिसके सेवन करने पर साधु को एक बार लिया हुआ संयम छोड़ कर पुनः संयम लेना पड़े।

९ अनवस्थाप्यर्ह--तप के बाद दूसरी बार दीक्षा लेने देने

योग्य। जब तक अमुक प्रकार का विशेष तप न करे, उसे दीक्षा नहीं दी जा सकती।

१० पारांचिकार्ह--गच्छ से बाहर करने योग्य। जिस दोष में साधु को गच्छ से निकाल दिया जाय।

साध्वी या रानी आदि का शील भंग करने पर यह प्रायश्चित्त दिया जाता है। यह महापराक्रम वाले आचार्य को ही दिया जाता है। इसकी शुद्धि के लिए छह महीने से ले कर बारह वर्ष तक गच्छ छोड़ कर जिनकल्पी की तरह कठोर तपस्या करनी पड़ती है। उपाध्याय के लिए नौवें प्रायश्चित्त तक का विधान है। सामान्य साधु के लिए आठवें प्रायश्चित्त 'मूलार्ह' तक का विधान है।

जहां तक चौदह पूर्वधारी और 'वज्रऋषभ-नाराच' नामक पहले संहनन वाले होते हैं, वहीं तक दसों प्रायश्चित्त रहते हैं। उनका विच्छेद होने के बाद मूलार्ह तक आठ ही प्रायश्चित्त होते हैं।

आलोचना देने वाले के दस गुण—

१ आचारवान् २ आधारवान्, ३ व्यवहारवान्, ४ अपव्रीडक, ५ प्रकुर्वक, ६ अपरिस्रावी, ७ निर्यापक, ८ अपायदर्शी ९ प्रियधर्मा और १० दृढ़धर्मा।

१ आचारवान्—ज्ञानादि आचार वाला।

२ आधारवान्—बताये हुए अतिचारों को मन में धारण करने वाला।

३ व्यवहारवान्—आगम-व्यवहार, धारणा-व्यवहार आदि पाँच व्यवहारों का ज्ञाता।

४ अपव्रीडक--शर्म से अपने दोषों को छिपाने वाले शिष्य की शर्म को मीठे वचनों से दूर कर के स्पष्ट आलोचना कराने वाला।

५ प्रकुर्वक--आलोचित अपराध का प्रायश्चित्त दे कर दोषों की शुद्धि कराने में समर्थ।

६ अपरिस्रावी--आलोचना करने वाले के दोषों को दूसरे के सामने प्रकट नहीं करने वाला।

७ निर्यापक--अशक्ति या और किसी कारण से एक साथ दूसरा प्रायश्चित्त लेने में असमर्थ साधु को थोड़ा-थोड़ा प्रायश्चित्त देकर निर्वाह करने वाला।

८ अपायदर्शी--आलोचना नहीं लेने में परलोक का भय तथा दूसरे दोष दिखाने वाला।

९ प्रियधर्मा--जिसको धर्म प्यारा हो।

१० दृढ़धर्मा--जो धर्म में दृढ़ हो।

प्रायश्चित्त लेने वाले साधु के दस गुण—

१ जाति सम्पन्न, २ कुल सम्पन्न, ३ विनय सम्पन्न, ४ ज्ञान सम्पन्न, ५ दर्शन सम्पन्न, ६ चारित्र सम्पन्न, ७ क्षमावान् ८ दान्त, ९ अमायी और १० अपश्चात्तापी।

उपरोक्त दस गुणों से युक्त अनगार अपने दोषों की आलोचना करने योग्य होता है।

१ जाति सम्पन्न--उत्तम जाति (मातृपक्ष) वाला। उत्तम जाति वाला प्रथम तो बुरा काम करता ही नहीं, कदाचित् उससे भूल हो भी जाय तो वह शुद्ध हृदय से आलोचना कर लेता है।

२ कुल सम्पन्न--उत्तम कुल (पितृपक्ष) वाला। उत्तम कुल में उत्पन्न व्यक्ति, लिए हुए प्रायश्चित्त को उत्तम रीति से पूरा करता है।

३ विनय सम्पन्न--विनयवान्।

४ ज्ञान सम्पन्न--ज्ञानवान्।

५ दर्शन सम्पन्न--श्रद्धालु।

६ चारित्र सम्पन्न--उत्तम चारित्र वाला।

७ क्षान्त--क्षमावान। किसी दोष के कारण गुरु से भ या फटकार आदि मिलने पर भी वह क्रोध नहीं करता।

८ दान्त—इन्द्रियों को वश में रखने वाला।

९ अमायी—कपट रहित।

१० अपश्चात्तापी—आलोचना लेने के बाद जो पश्चात्ताप नहीं करता।

प्रायश्चित्त के दस दोष--१ आकम्पयित्ता, २ अणुमाणइत्ता, ३ दिट्ठं, ४ बायरं, ५ सुहुमं, ६ छण्णं, ७ सद्दालुअयं, ८ बहुजण, ९ अव्वत्त और १० तस्सेवी।

१ आकंपयित्ता--'प्रसन्न होने पर गुरु महाराज थोड़ा प्रायश्चित्त देंगे' यह सोच कर उन्हें सेवा आदि से प्रसन्न कर फिर उनके पास दोषों की आलोचना करे, तो आकम्पयित्ता दोष है।

२ अणुमाणइत्ता--बिलकुल छोटा अपराध बताने से गुरु महाराज थोड़ा दण्ड देंगे, यह सोच कर अपने अपराध को बहुत छोटा कर के बताना 'अणुमाणइत्ता' दोष है।

३ दिट्ठं (दृष्ट)--जिस अपराध को आचार्य आदि ने देख

लिया हो, उसी की आलोचना करना।

४ बायरं (बादर)—केवल बड़े-बड़े अपराधों की आलोचना करना और छोटे दोषों को छिपा लेना।

५ सुहुमं (सूक्ष्म)—'जो अपने छोटे-छोटे अपराधों की भी आलोचना कर लेता है, वह बड़े अपराधों को कैसे छोड़ सकता है' यह विश्वास उत्पन्न कराने के लिए छोटे-छोटे दोषों की आलोचना करना।

६ छिण्णं (छिन्न)—अधिक लज्जा के कारण प्रच्छन्न (जहाँ कोई न सुन रहा हो ऐसे) स्थान पर आलोचना करना।

७ सद्दालुअयं (शब्दालु)—दूसरों को सुनाने के लिये जोर-जोर से बोल कर आलोचना करना।

८ बहुजन--एक ही दोष की बहुत-से गुरुओं के पास आलोचना करना।

९ अबक्तव्य--अगीतार्थ (किस दोष के लिए कैसा प्रायश्चित्त दिया जाता है--ऐसा जिस साधु को ज्ञान नहीं हो, उस) के पास आलोचना करना।

१० तत्सेवी--जिस दोष की आलोचना करनी हो, उसी दोष को सेवन करने वाले आचार्यादि के पास आलोचना करना।

उपरोक्त दोषों से रहित आचार्यादि के पास आलोचना करनी चाहिये।

दोष प्रतिसेवना के दस कारण हैं-१ दर्प, २ प्रमाद, ३ अनाभोग, ४ आतुर, ५ आपत्ति, ६ संकीर्ण ७ सहसाकार, ८ भय,

९ प्रद्वेष और १० विमर्श ।

१ दर्प—अहंकार के वश संयम की विराधना करना ।

२ प्रमाद—मद्यपान, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा—इन पाँच प्रमादों के सेवन से संयम की विराधना करना ।

३ अनाभोग—बिना उपयोग के अनजाने विराधना हो जाना ।

४ आतुर—भूख-प्यास आदि किसी पीड़ा से व्याकुल होकर विराधना होना ।

५ आपत्ति—किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना । आपत्ति चार प्रकार की होती है—द्रव्य आपत्ति—प्रासुक निर्दोष आहारादि का न मिलना । क्षेत्र आपत्ति—अटवी आदि भयंकर वन में रहना पड़े । काल आपत्ति—दुर्भिक्ष आदि के समय । भाव आपत्ति—रोगांतक होने पर शरीर का अस्वस्थ हो जाना आदि । इन आपत्तियों में से किसी आपत्ति के आने पर संयम की विराधना करना 'आपत्ति दोष' है ।

६ संकीर्ण—स्वपक्ष और परपक्ष से होने वाली स्थान की तंगी आदि के कारण संयम में दोष लगाना । अथवा शंकित प्रतिसेवना—ग्रहण योग्य आहारादि में भी किसी दोष की शंका हो जाने पर उसे ले-लेना 'संकीर्ण-प्रतिसेवना' दोष है ।

७ सहसाकार—अकस्मात् (बिना समझे-बूझे और पडिलेहणा किये बिना) सहसा किसी काम को करना ।

८ भय—भय से संयम की विराधना करना ।

९ प्रद्वेष—किसी पर द्वेष या ईर्ष्या से संयम की विराधना करना । यहाँ प्रद्वेष से चारों कषाय लिये जाते हैं ।

१० विमर्श—शिष्य की परीक्षा के लिए की गई संयम की विराधना।

इन दस कारणों से संयम में दोष लगता है और उस दोष की शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त लेना पड़ता है। अतः संयम का दूषित करने वाले इन कारणों का त्याग करना चाहिए।

विनय तप—विनय के सामान्यतः सात भेद हैं—१ ज्ञान-विनय, २ दर्शन-विनय, ३ चारित्र-विनय, ४ मन-विनय, ५ वचन-विनय, ६ काय-विनय और ७ लोकोपचार विनय। इन सातों के अवान्तर भेद १३४ होते हैं। वे इस प्रकार हैं—

ज्ञान-विनय के पाँच भेद हैं, यथा ज्ञान तथा ज्ञानी पर श्रद्धा रखना, उनके प्रति भक्ति तथा बहुमान दिखाना, उनके द्वारा प्रतिपादित तत्त्वों पर अच्छी तरह विचार तथा मनन करना और विधिपूर्वक ज्ञान ग्रहण करना, ज्ञान का अभ्यास करना ज्ञान-विनय है। इसके पांच भेद हैं। यथा—मतिज्ञान विनय, श्रुतज्ञान विनय, अवधिज्ञान विनय, मन:पर्ययज्ञान विनय और केवलज्ञान विनय।

दर्शन विनय के ५५ भेद इस प्रकार हैं—देव अरिहन्त, गुरु निर्ग्रंथ और धर्म केवलीभाषित, इन तीन तत्त्वों में श्रद्धा रखना 'दर्शन' या 'सम्यक्त्व' कहलाता है। दर्शन का विनय, भक्ति और श्रद्धा 'दर्शन-विनय' है। इसके सामान्यतः दो भेद हैं—शुश्रूषा विनय और अनाशातना विनय। शुश्रूषा विनय के दस भेद हैं—

१ अभ्युत्थान—गुरु महाराज या अपने से बड़े रत्नाधिक

पधारते हों, तो उन्हें देख कर खड़े हो जाना। २ आसनाभिग्रह 'पधारिये आसन अलंकृत कीजिये'—इस प्रकार कहना। ३ आसन प्रदान—बैठने के लिए आसन देना। ४ सत्कार—सत्कार करना ५ सम्मान—सम्मान देना। ६ कीर्ति कर्म—उनके गुण-ग्राम-स्तुति करना। ७ अंजलिप्रग्रह—हाथ जोड़ना। ८ अनुग-मनता—वापिस जाते समय कुछ दूर तक पहुँचाने जाना। ९ पर्युपासनता—बैठे हों, तो उनकी उपासना करना। १० प्रति-संसाधनता—उनके वचन स्वीकार करना।

अनाशातना विनय—दर्शन और दर्शनवान् की आशातना न करना अनाशातना विनय है। इसके पैंतालीस भेद हैं—१ अरिहन्त भगवान्, २ अरिहन्त-प्ररूपित धर्म, ३ आचार्य, ४ उपाध्याय, ५ स्थविर, ६ कुल, ७ गण, ८ संघ, ९ सांभोगिक साधर्मिक, १० क्रियावान् ११ मति ज्ञानवान्, १२ श्रुतज्ञानवान्, १३ अवधिज्ञानवान्, १४ मनःपर्ययज्ञानवान् और १५ केवल-ज्ञानवान्। इन १५ की आशातना न कर के विनय करना, भक्ति करना और गुणग्राम करना। इन तीन कार्यों के करने से ४५ भेद हो जाते हैं।

चारित्र विनय—चारित्र पर श्रद्धा करना, काया से उनका पालन करना तथा उनकी प्ररूपणा करना 'चारित्र-विनय' है। इसके पांच भेद हैं— १ सामायिक चारित्र-विनय। २ छेदोपस्था-पनीय चारित्र-विनय। ३ परिहार-विशुद्धि चारित्र-विनय। ४ सूक्ष्म-संपराय चारित्र-विनय और ५ यथाख्यात चारित्र-विनय।

इन पाँचों चारित्रधारियों का विनय करना चारित्र-विनय है।

मन-विनय—आचार्य आदि का मन से विनय करना। मन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा उसे शुभ प्रवृत्ति में लगाना विनय है। इसके दो भेद हैं—अप्रशस्त मन-विनय और प्रशस्त मन-विनय। अप्रशस्त मन-विनय के १२ भेद हैं— सावद्य, सक्रिय, कर्कश कटुक, निष्ठुर, परुष (कठोर) आश्रवकारी, छेदकारी, भेदकारी, परितापनाकारी, उपद्रवकारी और भूतोपघातकारी। ये मन के अप्रशस्तभाव हैं। इन अप्रशस्त भावों को मन में नहीं आने देना—'अप्रशस्त मन-विनय' है। उपरोक्त बारह भेदों से विपरीत प्रशस्त मन-विनय के भी बारह भेद होते हैं। इस प्रकार मन-विनय के २४ भेद होते हैं।

वचन-विनय—आचार्य आदि का वचन से विनय करना, वचन की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना तथा शुभ प्रवृत्ति में लगाना। मन-विनय की तरह वचन-विनय के भी २४ भेद होते हैं।

काय-विनय—काया से आचार्य आदि का विनय करना, काया की अशुभ प्रवृत्ति को रोकना और शुभ प्रवृत्ति करना। इसके दो भेद हैं—

प्रशस्त काय-विनय और अप्रशस्त काय-विनय। प्रशस्त काय-विनय के ७ भेद हैं—

१ आयुक्त गमन—सावधानीपूर्वक जाना।

२ आयुक्त स्थान—सावधानीपूर्वक ठहरना।

३ आयुक्त निषीदन—सावधानीपूर्वक बैठना।

४ आयुक्त त्यग्वर्तन—सावधानीपूर्वक लेटना।

५ आयुक्त उल्लंघन—सावधानीपूर्वक उल्लंघन करना।

६ आयुक्त प्रलंघन—सावधानीपूर्वक बारबार लाँघना।

७ आयुक्त सर्वेन्द्रिय योग-युंजनता—सभी इन्द्रियों और योगों को सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति करना।

अप्रशस्त काय-विनय के सात भेद हैं। ऊपर कही हुई सात बातों में, प्रमाद आदि से होता हुई असावधानी को रोकना—त्याग करना।

इस प्रकार काय-विनय के ये चौदह भेद हुए।

लोकोपचार विनय—दूसरों को सुख पहुँचे, इस प्रकार की बाह्य-क्रियाएँ करना 'लोकोपचार विनय' कहलाता है। इसके सात भेद हैं—

१ अभ्यास वृत्तिता—गुरु आदि के पास रहना और अभ्यास में रुचि रखना।

२ परच्छन्दानुवर्तिता गुरु आदि बड़ों की इच्छानुसार कार्य करना।

३ कार्यहेतु—उनके द्वारा किये हुए ज्ञानदानादि कार्य के लिए उन्हें विशेष मानना, उन्हें आहारादि ला कर देना।

४ कृत प्रतिक्रिया—अपने ऊपर किये हुए उपकार का बदला चुकाना अथवा 'आहार आदि के द्वारा गुरु की शुश्रूषा करने से वे प्रसन्न होंगे और उसके बदले में वे मुझे ज्ञान सिखावेंगे'—ऐसा समझ कर उनकी विनयभक्ति करना।

५ आर्त्तगवेषणता—बीमार साधुओं की सार-संभाल करना।

६ देश-कालानुज्ञता—अवसर देख कर कार्य करना।

७ सर्वार्थ अप्रतिलोमता—सभी कार्यों में गुरु महाराज के अनुकूल प्रवृत्ति करना।

ये लोकोपचार विनय के सात भेद हैं।

विनय के सात भेदों के अनुक्रम से—ज्ञानविनय के ५, दर्शन विनय के ५५, चारित्रविनय के ५, मन विनय के २४, वचन विनय के २४, कायविनय के १४ और लोकोपचार विनय के ७। ये कुल मिलाकर १३४ भेद हुए।

वैयावृत्य तप

अब वैयावृत्य तप का वर्णन किया जाता है।

वैयावृत्य—गुरु, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित आदि को विधि-पूर्वक आहारादि ला कर देना, 'वैयावृत्य' कहलाता है। वैयावृत्य के दस भेद इस प्रकार हैं—आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, ग्लान (रोगी), शैक्षक (नवदीक्षित) कुल (एक आचार्य का शिष्य-परिवार) गण (समूह) संघ और साधर्मिक (समान धर्म वाले) इन दस का वैयावृत्य करना।

स्वाध्याय

अब स्वाध्याय का वर्णन किया जाता है।

स्वाध्याय—अस्वाध्याय काल टाल कर मर्यादा पूर्वक शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन आदि करना 'स्वाध्याय' हैं। स्वाध्याय के पाँच भेद हैं—१ वाचना, २ पृच्छना, ३ परिवर्तना, ४ अनुप्रेक्षा और ५ धर्मकथा।

१ वाचना—शिष्य को सूत्र और अर्थ पढ़ाना।

२ पृच्छना—वाचना ग्रहण कर के उसमें सन्देह होने पर पुनः पूछना, अथवा पहले सीखे हुए सूत्रादि ज्ञान में शंका होने पर प्रश्न करना 'पृच्छना' है।

३ परिवर्तना—पढ़ा हुआ ज्ञान भूल न जाय, इसलिए उसकी बार-बार आवृत्ति करना 'परिवर्तना' कहलाती है।

४ अनुप्रेक्षा—सीखे हुए सूत्र के अर्थ पर बार-बार मनन करना, विचार करना।

५ धर्मकथा—उपरोक्त चारों प्रकार से शास्त्र का अभ्यास करने पर श्रोताओं को शास्त्रों का व्याख्यान सुनाना, धर्मोपदेश देना।

ध्यान

ध्यान—एक लक्ष्य पर चित्त को एकाग्र करना 'ध्यान' है। ध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—

१ आर्त्तध्यान, २ रौद्रध्यान, ३ धर्मध्यान और ४ शुक्ल-ध्यान।

आर्त्तध्यान—आर्त्त अर्थात् दुःख के निमित्त से या दुःख में होने वाला ध्यान 'आर्त्तध्यान' कहलाता है। अथवा—मनोज्ञ वस्तु के वियोग और अमनोज्ञ के संयोग आदि कारण से चित्त की चञ्चलता - आर्त्तध्यान है। अथवा जीव मोहवश राज्य का उपभोग, शयन, आसन, वाहन, स्त्री, गन्ध, वासन, रत्न, आभूषण आदि में जो अतिशय इच्छा करता है वह 'आर्त्तध्यान' है। इसके चार भेद हैं।

१ अमनोज्ञ-वियोगचिंता—अरुचिकर शब्द, रूप, रस, गंध,

और स्पर्श विषय और उनकी साधनभूत वस्तुओं का संयोग होने पर, उनके वियोग का विचार करना तथा भविष्य में भी ऐसी वस्तुएँ नहीं मिले—ऐसी इच्छा रखना। इस आर्त्तध्यान का कारण द्वेष है।

२ मनोज्ञ संयोग चिन्ता—पाँचों इन्द्रियों के इच्छित विषय एवं उनके कारण रूप माता, पिता, भाई, स्वजन, स्त्री, पुत्र, और धन तथा साता-वेदना के सयोग में उनका वियोग न हो जाय—ऐसा विचार करना तथा भविष्य में भी उनके संयोग की इच्छा करना। इसका मूल कारण 'राग' है।

३ रोग चिन्ता—किसी प्रकार का रोग होने पर उसे दूर करने की अथवा भविष्य में रोग न होने की चिन्ता करना।

४ निदान—देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदि के रूप और ऋद्धि आदि को देख कर या सुन कर उनकी प्राप्ति के लिए तप संयम का दाव पर लगाने का संकल्प करना।

आर्त्तध्यान के चार लिंग हैं—

१ आक्रन्दन—ऊँचे स्वर से रोना-चिल्लाना।

२ शोचन—आँखों में आँसू ला कर दीनभाव लाना।

३ परिवेदना—बारबार क्लिष्ट भाषण करना, विलाप करना।

४ तेपनता—टपटप आँसू गिराना।

इष्ट-वियोग, अनिष्ट-संयोग और वेदना के निमित्त से ये चार चिन्ह होते हैं।

रौद्रध्यान—हिंसा, झूठ, चोरी सम्बन्धी तथा धन आदि की रक्षा में मन को जोड़ना 'रौद्रध्यान' है, अथवा—हिंसा आदि

विषय का क्रूर परिणाम 'रौद्रध्यान' है। इसके चार भेद हैं—

१ हिंसानुबन्धी—प्राणियों को मारने, पीटने, बाँधने, जलाने और प्राणान्त करने का चिन्तन करना।

२ मृषानुबन्धी—दूसरों को ठगने, धोखा देने के अनिष्ट सूचक असभ्य, असत् प्रकाशन, सत्य का अपलाप आदि असत्य वचन एवं प्राणियों का उपघात करने वाले वचन कहने का चिंतन करना।

३ चौर्य्यानुबन्धी—तीव्र क्रोध और लोभ से चोरी करने का चिन्तन करना।

४ संरक्षणानुबन्धी—शब्दादि पाँच विषय के साधनभूत धन, स्त्री आदि की रक्षा करने करने की चिन्ता करना।

हिंसा, झूठ, चोरी और संरक्षण स्वयं करना, दूसरों से करवाना और करते हुए की अनुमोदना करना तथा इन तीनों के विषय में चिन्तन करना।

रौद्रध्यान के चार लिंग (लक्षण) इस प्रकार हैं—

१ ओसन्न दोष—रौद्रध्यानी हिंसा से निवृत्त न होने से बहुलतापूर्वक हिंसादि में से किसी एक में प्रवृत्ति करता है।

२ बहुल दोष—रौद्रध्यानी हिंसादि सभी दोषों में प्रवृत्ति करता है।

३ अज्ञान दोष—अज्ञान से अधर्म स्वरूप हिंसादि में धर्म-बुद्धि से प्रवृत्ति करना, अथवा नाना दोष—हिंसादि के विविध उपायों में अनेक बार प्रवृत्ति करना।

४ आमरणान्त दोष—मरणपर्यन्त हिंसादि क्रूर कार्यों का पश्चात्ताप न होना एवं हिंसादि में प्रवृत्ति करते रहना।

धर्मध्यान—धर्म के स्वरूप के पर्यालोचन में मन को एकाग्र करना। इसके चार भेद हैं।

१ आज्ञाविचय—भगवान् की आज्ञा को सत्य मानकर श्रद्धापूर्वक तत्त्वों का चिन्तन मनन करते हुए एकाग्र होना।

२ अपायविचय—राग, द्वेष, कषाय, मिथ्यात्व, अविरति आदि पापों और उनके कुफल का चिन्तन करना।

३ विपाकविचय—कर्म के शुभाशुभ फल विषयक चिन्तन करना। जैसे—शुद्ध आत्मा का स्वरूप ज्ञान, दर्शन सुख आदि रूप है, फिर भी कर्मवश आत्मा के निजी गुण दबे हुए हैं। कर्मों के वश होकर आत्मा संसार में चारों गतियों में भ्रमण कर रही है। संपत्ति, विपत्ति, संयोग, वियोग आदि से होने वाले सुख-दुःख तो जीव के पूर्वोपार्जित शुभाशुभ कर्मों का ही फल है। इस प्रकार कर्म विषयक चिन्तन में मन को लगाना।

४ संस्थानविचय—लोक का स्वरूप, पृथ्वी, द्वीप, सागर, नरक, स्वर्ग आदि के आकार का चिंतन करना। लोक स्थिति जीव की गति, आगति, जीवन, मरण आदि शास्त्रोक्त पदार्थों का चिन्तन करना तथा इस अनादि अनन्त संसार-सागर से पार करने वाली ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, संवर रूप नौका का विचार करने में एकाग्र होना।

धर्मध्यान के चार लिंग इस प्रकार हैं—

१ आज्ञारुचि—शास्त्रोक्त अर्थों पर रुचि रखना।

२ निसर्गरुचि—किसी के उपदेश के बिना, स्वभाव से ही जिन-भाषित तत्त्वों पर श्रद्धा होना।

३ सूत्र-रुचि—सूत्रोक्त प्रतिपादित तत्त्वों पर श्रद्धा करना।

४ उपदेश-रुचि—साधु के सूत्रानुसारी उपदेश से जो श्रद्धा होती है वह 'उपदेश-रुचि' है।

तात्पर्य यह है कि तत्वार्थ-श्रद्धान रूप सम्यक्त्व ही धर्म-ध्यान का लिंग है।

जिनेश्वर देव एवं साधु-मुनिराज के गुणों का कथन करना, भक्ति पूर्वक उनकी प्रशंसा और स्तुति करना, गुरु आदि का विनय करना, दान देना, श्रुत, शील एवं संयम में अनुराग रखना, ये धर्मध्यान के चिह्न हैं। इनसे धर्मध्यानी पहिचाना जाता है।

धर्मध्यान रूपी प्रासाद पर चढ़ने के चार अवलम्बन हैं—

१ वाचना—निर्जरा के लिए शिष्य को सूत्रार्थ पढ़ाना।

२ पृच्छना—सूत्रार्थ में शंका होने पर उसका निवारण करने के लिए पूछना।

३ परिवर्त्तना—पहले पढ़े हुए सूत्रादि भूल न जाय, इस-लिए उसकी आवृत्ति करना।

४ धर्मकथा—धर्मोपदेश देना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ इस प्रकार हैं—

१ एकत्व भावना—"इस संसार में मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है और मै भी किसी का नहीं हूँ।" आत्मा के असहायपन की भावना करना—एकत्व भावना है।

२ अनित्य भावना—संसार के सभी पदार्थों की अनित्यता का विचार करना।

३ अशरण भावना—संसार में दुःखों से बचाने वाला कोई

नहीं है। केवल जिनेन्द्र भगवान् के प्रवचन ही एक त्राण-शरण रूप है। इस प्रकार आत्मा के त्राण-शरण के अभाव का चिंतन करना।

४ संसार भावना—चार गति में सभी अवस्थाओं में संसार के विचित्रतापूर्ण स्वरूप का विचार करना।

शुक्ल ध्यान—पूर्व विषयक श्रुत के आधार से मन की अत्यन्त स्थिरता और योग का निरोध—'शुक्ल ध्यान' कहलाता है। अथवा—जो ध्यान आठ प्रकार के कर्म-मल को दूर करता है, वह 'शुक्ल ध्यान' है। पर अवलम्बन के बिना शुक्ल अर्थात् निर्मल आत्म-स्वरूप का तन्मयतापूर्वक चिन्तन करना 'शुक्ल-ध्यान' है। अथवा जिस ध्यान में विषयों का सम्बन्ध होने पर भी वैराग्य-बल से चित्त बाहरी विषयों की ओर नहीं जाता तथा शरीर का छेदन-भेदन होने पर भी स्थिर हुआ चित्त, ध्यान से लेश मात्र भी नहीं डिगता, उसे 'शुक्लध्यान' कहते हैं।

शुक्लध्यान के भेद इस प्रकार हैं—

१ पृथक्त्व-वितर्क सविचारी—एक द्रव्य विषयक अनेक पर्यायों का पृथक्-पृथक् रूप से विस्तारपूर्वक द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक आदि नयों से चिन्तन करना। यह ध्यान विचार सहित होता है। इस ध्यान में अर्थ से शब्द में, शब्द से अर्थ में, शब्द से शब्द में और अर्थ से अर्थ में एवं एक योग से दूसरे योग में संक्रमण होता है।

२ एकत्व-वितर्क-अविचारी—उत्पाद आदि पर्यायों के एकत्व (अभेद) से किसी एक पदार्थ का अथवा पर्याय का

स्थिर चित्त से चिन्तन करना। इसमें अर्थ, व्यञ्जन और योगों का संक्रमण नहीं होता। जिस तरह वायु रहित एकांत स्थान में दीपक की लो स्थिर रहती है, इसी प्रकार इस ध्यान में चित्त स्थिर रहता है।

३ सूक्ष्म-क्रिया-अनिवर्ती—मोक्ष जाने से पहले केवली भगवान् मन और वचन–इन दो योगों का तथा अर्द्ध काययोग का भी निरोध कर लेते हैं। उस समय केवली भगवान् के उच्छ्वास आदि कायिकी सूक्ष्म क्रिया ही रहती है।

४ समुच्छिन्न-क्रिया अप्रतिपाती—शैलेशी अवस्था को प्राप्त केवली भगवान् सभी योगों का निरोध कर लेते हैं। योगों के निरोध से सभी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। यह ध्यान सदा सहज बना रहता है।

पृथक्त्व-वितर्क-सविचारी शुक्लध्यान सभी योगों में होता है। एकत्व वितर्क अविचारी शुक्लध्यान किसी एक ही योग में होता है। सूक्ष्म-क्रिया-अनिवर्ती शुक्लध्यान केवल काययोग में होता है और समुच्छिन्नक्रिया अप्रतिपाती शुक्लध्यान अयोगी को ही होता है। छद्मस्थ के मन को निश्चल करना 'ध्यान' कहलाता है और केवली का काया को निश्चल करना 'ध्यान' कहलाता है।

शुक्लध्यान के चार लिंग इस प्रकार हैं—

१ अव्यय—शुक्लध्यानी ध्यान से चलित नहीं होता।

२ असम्मोह—शुक्लध्यानी को किसी भी विषय में सम्मोह नहीं होता।

३ विवेक—शुक्लध्यानी आत्मा को देह से भिन्न और सभी संयोगों को आत्मा से भिन्न समझता है।

४ व्युत्सर्ग—शुक्लध्यानी निस्संग रूप से देह और उपधि का त्याग करता है।

शुक्लध्यान के चार आलम्बन हैं। इनसे जीव शुक्लध्यान पर चढ़ता है।

१ क्षमा—क्रोध न करना, उदय में आये हुए क्रोध को विफल कर देना।

२ मार्दव—मान न करना, उदय में आये हुए मान को विफल कर देना।

३ आर्जव—माया को उदय में न आने देना एवं उदय में आई हुई माया को विफल कर देना। माया का त्याग आर्जव (सरलता) है।

४ मुक्ति—उदय में आये हुए लोभ को विफल करना।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ (भावनाएँ) इस प्रकार हैं—

१ अनंत वर्तितानुप्रेक्षा—भव-परम्परा की अनंतता की भावना करना। जैसे—यह जीव अनादि काल से संसार में चक्कर लगा रहा है, समुद्र की तरह इस संसार के पार पहुँचना उसे दुष्कर हो रहा है। वह नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव भवों में लगातार एक के बाद दूसरे में, बिना विश्राम के परिभ्रमण कर रहा है। इस प्रकार की भावना 'अनंत वर्तितानुप्रेक्षा' है।

२ विपरिणामानुप्रेक्षा—वस्तुओं के विविध परिणमन पर विचार करना। जैसे कि—मनुष्य एवं देव आदि की ऋद्धियाँ

और सुख अस्थायी है, आदि।

३ अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ स्वरूप पर विचार करना। जैसे कि इस संसार को धिक्कार है, जिसमें एक सुन्दर रूप वाला अभिमानी पुरुष मर कर अपने ही मृत-शरीर में कीड़ा बनकर उत्पन्न हो जाता है, इत्यादि।

४ अपायानुप्रेक्षा—आश्रवों से होने वाले, जीवों को दुःख देने वाले, विविध उपायों का चिन्तन करना। जैसे कि वश में नहीं किये हुए क्रोध और मान, बढ़ती हुई माया और लोभ—ये चारों संसार के मूल को सींचने वाले हैं, इत्यादि।

आर्त्तध्यान के ८, रौद्रध्यान के ८, धर्मध्यान के १६ और शुक्लध्यान के १६। ये सभी मिला कर ध्यान के ४८ भेद हुए।

चार ध्यानों में से धर्मध्यान और शुक्लध्यान—निर्जरा के कारण हैं, अतः ग्राह्य हैं। आर्त्त और रौद्र—ये दो ध्यान कर्म-बन्ध एवं संसार वृद्धि के कारण हैं, अतः त्याज्य हैं।

व्युत्सर्ग

अब व्युत्सर्ग का वर्णन किया जाता है।

व्युत्सर्ग—ममत्व का त्याग करना 'व्युत्सर्ग' तप है। इसके सामान्यतः दो भेद हैं—द्रव्य व्युत्सर्ग और भाव व्युत्सर्ग। द्रव्य व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

१ शरीर व्युत्सर्ग—ममत्व रहित होकर शरीर का त्याग करना।

२ गण व्युत्सर्ग—अपने गण (गच्छ) का त्याग करके 'जिनकल्प' स्वीकार करना।

३ उपधि व्युत्सर्ग—किसी कल्प विशेष में उपधि का त्याग करना।

४ भक्त-पान व्युत्सर्ग—सदोष आहार-पानी का त्याग करना।

भाव व्युत्सर्ग के चार भेद हैं—

१ कषाय व्युत्सर्ग—कषाय का त्याग करना। इसके चार भेद हैं—क्रोध व्युत्सर्ग, मान व्युत्सर्ग, माया व्युत्सर्ग और लोभ व्युत्सर्ग।

२ संसार व्युत्सर्ग—नरक आदि आयुबन्ध के कारण मिथ्यात्व आदि का त्याग करना। इसके चार भेद हैं—१ नैरयिक संसार व्युत्सर्ग, २ तिर्यंच संसार व्युत्सर्ग, ३ मनुष्य संसार व्युत्सर्ग और ४ देव संसार व्युत्सर्ग।

३ कर्म व्युत्सर्ग—कर्मबन्ध के कारणों का त्याग करना। इसके आठ भेद हैं—ज्ञानावरणीय कर्म व्युत्सर्ग, दर्शनावरणीय कर्म व्युत्सर्ग, वेदनीय कर्म व्युत्सर्ग, मोहनीय कर्म व्युत्सर्ग, आयुष्य कर्म व्युत्सर्ग, नाम कर्म व्युत्सर्ग, गोत्र कर्म व्युत्सर्ग और अन्तराय कर्म व्युत्सर्ग।

४ भाव व्युत्सर्ग—समस्त अशुभ भावों से विरत होकर धर्म भावना में रमण करना। कहीं-कहीं भाव व्युत्सर्ग के स्थान पर 'योग व्युत्सर्ग' बतलाया गया है। मन, वचन और काययोग का त्याग करना—योग-व्युत्सर्ग है।

ये व्युत्सर्ग तप के भेद हुए।

आभ्यन्तर तप मोक्ष प्राप्ति में अन्तरंग कारण है। इनका प्रभाव बाह्य शरीर पर नहीं पड़ता, किन्तु आभ्यन्तर राग-द्वेष

कषाय आदि पर पड़ता है। इसलिए उपरोक्त छह प्रकार का तप 'आभ्यन्तर तप' कहा जाता है।

॥ निर्जरा तत्त्व समाप्त ॥

८ बन्ध तत्त्व

अब बन्ध तत्त्व का वर्णन किया जाता है—

बन्ध—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग के निमित्त से आत्म-प्रदेशों में हलचल होती है, तब जिस क्षेत्र में आत्मप्रदेश हैं, उसी क्षेत्र में रहे हुए अनन्तानन्त कर्म योग्य पुद्गल जीव के साथ बन्ध को प्राप्त होते हैं। जीव और कर्म का यह बन्ध ठीक वैसा ही होता है, जैसा दूध और पानी का, अग्नि और लोहपिण्ड का। बन्ध के चार भेद हैं—१ प्रकृति बन्ध, २ स्थिति बन्ध, ३ अनुभाग बन्ध और ४ प्रदेश बन्ध।

१ प्रकृति बन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में भिन्न-भिन्न स्वभावों का होना।

२ स्थिति बन्ध—जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए, कर्म-पुद्गलों में अमुक काल तक जीव के साथ लगे रहने की कालमर्यादा।

३ अनुभाग बन्ध—इसे 'अनुभाव बन्ध,' 'अनुभव बन्ध' तथा 'रस-बन्ध' भी कहते हैं। जीव के द्वारा ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में फल देने की न्यूनाधिक शक्ति।

४ प्रदेश बन्ध—जीव के साथ न्यूनाधिक परमाणु वाले कर्म-स्कन्धों का सम्बन्ध होना।

चारों बन्धों का स्वरूप समझाने के लिए मोदक (लड्डु) का दृष्टांत दिया जाता है—

जैसे—सोंठ, पीपल, कालीमिर्च आदि से बनाया हुआ लड्डु वायु नाशक होता है। इसी प्रकार पित्त-नाशक और कफ-नाशक पदार्थों से बना हुआ मोदक, पित्त और कफ नाशक होता है। इसी प्रकार आत्मा से ग्रहण किये हुए कर्म-पुद्गलों में से किन्हीं में ज्ञान-गुण को आच्छादन करने की शक्ति होती है, किन्हीं में दर्शन-गुण, किन्ही में आत्मा के आनन्द गुण और किन्ही में आत्मा की अनन्त शक्ति घात करने की शक्ति होती हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म-पुदगुलों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रकृतियों का बन्ध होना 'प्रकृति बन्ध' कहलाता है। कोई मोदक एक सप्ताह, कोई एक पक्ष, कोई एक मास तक प्रभाव-शाली रहता है, इसके बाद ये विकृत हो जाते हैं। मोदकों की कालमर्यादा के समान कर्मों की भी कालमर्यादा होती है, इसी को 'स्थिति बन्ध' कहते हैं। स्थिति पूर्ण होने पर कर्म आत्मा से पृथक् हो जाते हैं।

कोई मोदक रस में अधिक मधुर होते हैं, तो कोई कम। कोई रस में अधिक कट होते हैं, तो कोई कम। इस प्रकार मोदकों में रसों की न्यूनाधिकता होती है। उसी प्रकार कुछ कर्म-पुद्गलों में शुभ-रस अधिक और कुछ में कम। कुछ कर्म-पुद्गलों में अशुभ रस अधिक और कुछ में कम होता है। इसी प्रकार कर्मों में तीव्र, तीव्रतर, तीव्रतम, मन्द, मन्दतर, मन्दतम शुभाशुभ रसों का बन्ध होना—'रस बन्ध' है।

कोई मोदक परिणाम में दो तोले का, कोई पांच तोले का

और कोई पाव भर का होता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कर्म पुद्गलों में न्यूनाधिक परमाणु होना 'प्रदेश बन्ध' है।

जीव संख्यात, असंख्यात और अनन्त परमाणुओं से बने हुए कार्माण स्कन्ध को ग्रहण नहीं करता, परन्तु अनन्तानन्त परमाणु वाले स्कन्ध को ग्रहण करता है।

प्रकृति-बन्ध और प्रदेश-बन्ध तो योग के निमित्त से होता है और स्थिति-बन्ध और अनुभाग-बन्ध कषाय के निमित्त से होता है।

कर्मों के नाम और लक्षण

श्री भगवती सूत्र शतक ८ उद्देशा ९ में कर्मों की प्रकृति बन्ध के ८५ कारण बताये और श्री पन्नवणा सूत्र पद २३ उद्देशा १ में कर्म-भोग के ९३ कारण बताये हैं। वे इस प्रकार हैं—

कर्मों के नाम—१ ज्ञानावरणीय २ दर्शनावरणीय ३ वेदनीय ४ मोहनीय ५ आयु ६ नाम ७ गोत्र और ८ अन्तराय।

लक्षण—१ वस्तु के विशेष धर्म को जानना 'ज्ञान' कहलाता है और जिसके द्वारा ज्ञान ढाँका जाय, उसे 'ज्ञानावरणीय कर्म' कहते हैं। जैसे बादलों से सूर्य ढँक जाता है।

२ वस्तु के सामान्य धर्म को जानना 'दर्शन' कहलाता है, उस दर्शन को आच्छादित करने वाले कर्म को 'दर्शनावरणीय' कहते हैं। जैसे द्वारपाल के रोक देने पर राजा के दर्शन नहीं हो पाते।

३ जिस कर्म के द्वारा साता (सुख) और असाता (दुःख)

का वेदन (अनुभव) हो, उसे 'वेदनीय कर्म' कहते हैं। जैसे शहद लिपटी तलवार के चाटने से शहद की मधुरता का सुख और जीभ कटने से दुःख होता है।

४ जिससे आत्मा मोहित—(सत् और असत् के ज्ञान से शून्य) हो जाय, उसे 'मोहनीय कर्म' कहते हैं। जैसे मदिरा पीने से मनुष्य बेभान हो जाता है।

५ जिस कर्म के उदय से जीव चार गतियों में रुका रहे उसे 'आयु कर्म' कहते हैं। जैसे बेड़ी में बँधने से अपराधी रुक जाता है—पराधीन हो जाता है।

६ जिस कर्म से आत्मा, गति आदि नाना पर्यायों का अनुभव करे (शरीर आदि बने या जो जीव के अमूर्तत्व गुण को प्रकट न होने दे) उसे 'नामकर्म' कहते हैं। जैसे चित्रकार अनेक प्रकार के चित्र बनाता है।

७ जिस कर्म के उदय से जीव उच्च-नीच कुलों में उत्पन्न हो, उसे 'गोत्र कर्म' कहते हैं। जैसे कुंभकार छोटे-बड़े बरतन बनाता है।

८ जिस कर्म से दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य (शक्ति) में विघ्न उत्पन्न हों, उसे 'अन्तराय कर्म' कहते हैं। जैसे राजा की आज्ञा होने पर भी दान प्राप्ति में भण्डारी बाधक होता है।

कर्मों की उत्तर प्रकृतियां

आठ कर्मों की १४८ प्रकृतियाँ हैं। यथा—ज्ञानावरणीय

की पाँच ५, दर्शनावरणीय की नौ ९, वेदनीय की दो २, मोहनीय की अट्ठाईस २८, आयु कर्म की चार ४, नाम कर्म की तिरानवे ९३, गोत्र कर्म की दो २ और अन्तराय कर्म की पांच ५ प्रकृतियां है।

प्रकृतियों* के नाम

ज्ञानावरणीय✽ की प्रकृतियाँ ५ हैं—१ मतिज्ञानावरणीय★ २ श्रुतज्ञानावरणीय ३ अवधिज्ञानावरणीय ४ मनःपर्यायज्ञानावरणीय और ५ केवलज्ञानावरणीय।

२ दर्शनावरणीय की प्रकृतियां ९—१ निद्रा २ निद्रानिद्रा ३ प्रचला ४ प्रचलाप्रचला ५ स्त्यानगृद्धि ६ चक्षुदर्शनावरण ७ अचक्षुदर्शनावरण ८ अवधिदर्शनावरण और ९ केवलदर्शनावरण।

जिसके उदय से सुख से सोवे और सुख से जागे उसे 'निद्रा' प्रकृति कहते हैं। जिसके उदय से ऐसी निद्रा आवे जो आवाज देने से टूटे, उसे 'निद्रानिद्रा' प्रकृति कहते हैं। जिसके उदय से

---

* यहां प्रकृतियों का अर्थ 'अवान्तर भेद' हैं। यों तो सामान्य रूप से एक प्रकृति हैं, उसके उल्लिखित आठ भेद हैं। आठों के विवक्षा विशेष से १४८ भेद हैं। अन्य विवक्षाओं से कम या अधिक भेद हो सकते हैं। इसलिए १५८ भेद भी हो जाते हैं।

✽ ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान का सर्वथा अभाव नहीं होता, परन्तु अव्यक्त हो जाता है। जैसे बादलों से सूर्य का अभाव नहीं हो जाता, परन्तु अप्रकट हो जाता है।

★ जो मतिज्ञान को ढंके। इसी प्रकार चारों के लक्षण समझना चाहिये।

बैठे-बैठे नींद आवे, उसे 'प्रचला' कहते हैं। जिसके उदय से चलते-फिरते नींद आवे, उसे 'प्रचला-प्रचला' कहते हैं और जिसके उदय से जाग्रत अवस्था में सोचा हुआ कार्य सुप्त अवस्था में कर डाले, उसे 'स्त्यानगृद्धि*' प्रकृति कहते हैं।

३ वेदनीय कर्म की दो प्रकृतियाँ—१ साता वेदनीय और २ असातावेदनीय।

४ मोहनीय कर्म की २८ प्रकृतियाँ हैं। इनके मुख्य दो भेद हैं—१ दर्शन-मोहनीय और चारित्र-मोहनीय २५। दर्शनमोहनीय की तीन प्रकृतियाँ हैं – १ मिथ्यात्व मोहनीय २ मिश्र मो० और ३ सम्यक्त्व-मोहनीय। चारित्र-मोहनीय के भी दो भेद हैं–कषाय-मोहनीय और नोकषाय-मोहनीय। कषाय-मोहनीय के सोलह भेद हैं—अनन्तानुबन्धी १ क्रोध २ मान ३ माया और ४ लोभ, अप्रत्याख्यानी ५ क्रोध ६ मान ७ माया और ८ लोभ, प्रत्याख्यानावरण १ क्रोध १० मान ११ माया और १२ लोभ

---

* इस निद्रा में वासुदेव का आधा बल आ जाता है। उस समय जीव इस निद्रा में ही उठ कर पेटी खोलता है, उसमें से गहनों का डब्बा निकाल कर कपड़े में पोटली बांधता है और नदी किनारे जाकर एक हजार मन की शिला ऊँची उठाकर पोटली को नीचे दबा देता है। फिर नदी में कपड़े धो कर घर चला आता है। लेकिन जागने पर कुछ भी स्मरण नहीं रहता। छह महीने पश्चात् जब दूसरी बार ऐसी निद्रा आती है, तब फिर वहाँ जाकर वही डिब्बा उठा लाता है। इस निद्रा वाला मनुष्य, आयु कर्म न बँध चुका हो, तो नरक गति में जाता है। यह उत्कृष्ट स्त्यानगृद्धि निद्रा की बात है।

संज्वलन का १३ क्रोध १४ मान १५ माया और १६ लोभ। नोकषाय☆के नौ भेद हैं—१ हास्य २ रति ३ अरति ४ भय ५ शोक ६ जुगुप्सा ७ स्त्रीवेद ८ पुरुषवेद और ९ नपुंसकवेद-ये सब मिलाकर अट्ठाईस भेद हैं।

५ आयु कर्म की ४ प्रकृतियां--१ नरकायु, तिर्यंचायु, ३ मनुष्यायु और ४ देवायु।

६ नामकर्म की ९३ प्रकृतियां—४ गति (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) ५ जाति (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और पंचेन्द्रिय) ५ शरीर (औदारिक, वैक्रिय, आहारक तैजस् और कार्मण) ३ अंगोपांग (औदारिक, वैक्रिय और आहारक) ५ बन्धन (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस और कार्मण) ५ संघात (औदारिक, वैक्रिय, आहारक, तैजस् और कार्मण) ६ संस्थान (समचतुरस्र, न्यग्रोधपरिमंडल, सादि, वामन, कुब्जक और हुण्डक) ६ संहनन (वज्रऋषभनाराच, ऋषभनाराच, नाराच, अर्द्धनाराच, कीलक और सेवार्त) ५ वर्ण (कृष्ण, नील, रक्त, पीत और श्वेत) ३ गन्ध (सुगन्ध और दुर्गन्ध) ५ रस (तीखा, कडुवा, कषायला, खट्टा और मीठा) ८ स्पर्श (कठोर, कोमल, हलका, भारी, चिकना, रुखा, ठण्डा और गर्म) ४ आनुपूर्वी (नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव) १ अगुरुलघु १ उपघात १ पराघात १ उच्छ्वास १ आतप १ उद्योत १ निर्माण १ तीर्थंकर २ विहायोगति (शुभ—मनोज्ञ, अशुभ—

☆कषायों को हास्य आदि उत्तेजित करते हैं और उनके सहचारी हैं, इसलिए उन्हें 'नो (ईषत्) कषाय' कहते हैं।

अमनोज्ञ) १ त्रस १ स्थावर १ बादर १ सूक्ष्म १ पर्याप्त १ अपर्याप्त १ प्रत्येक १ साधारण १ स्थिर १ अस्थिर १ शुभ १ अशुभ १ सुभग १ दुर्भग १ सुस्वर १ दुःस्वर १ आदेय १ अनादेय १ यशःकीर्ति १ अयशःकीर्ति। ये तिरानवे प्रकृतियां नामकर्म की हैं।

इनमें निम्नलिखित दस और बढ़ा देने से १०३ हो जाती हैं- १ औदारिक तैजस बंधन २ औदारिक कार्मण बंधन ३ औदारिक तैजस कार्मण बंधन ४ वैक्रिय तैजस बंधन ५ वैक्रिय कार्मण बंधन ६ वैक्रिय तैजस कार्मण बंधन ७ आहारक तैजस बंधन ८ आहारक वैक्रिय बंधन ९ आहारक तैजस कार्मण बंधन और १० तैजस कार्मण बन्धन, ये एक सौ तीन प्रकृतियाँ हैं। ७ गोत्रकर्म की २ प्रकृतियां—१ उच्चगोत्र और २ नीचगोत्र। ८ अन्तराय कर्म की ५ प्रकृतियाँ—१ दानान्तराय २ लाभान्तराय ३ भोगान्तराय ४ उपभोगान्तराय और ५ वीर्यान्तराय।

कर्म बन्ध के कारण और फल

१ ज्ञानावरणीय कर्म छह प्रकार से बन्धता हैं। यथा—१ णाणपडिणीययाए—ज्ञान और ज्ञानी की प्रत्यनीकता (विरोध) करने से, २ णाणणिण्हवणयाए—ज्ञान एवं ज्ञानदाता का अपलाप करने (लोप करने, छुपाने) से, ३ णाणंतराएणं—ज्ञान प्राप्त करने वाले को अन्तराय डालने (बाधक बनने) से ४ णाणप्पओसेणं—ज्ञान व ज्ञानी से द्वेष करने से, ५ णाणच्चासायणाए—ज्ञान व ज्ञानी की आशातना करने से और ६ णाणविसंवायणाजोगेणं—ज्ञानी से विसंवाद (वितण्डावाद) करने से।

इस कर्म का फल दस प्रकार का है—१ श्रोत्र इन्द्रिय का

आवरण २ श्रुतज्ञान का आवरण ३ चक्षु-इन्द्रिय का आवरण ४ चक्षु-इन्द्रिय से होने वाले ज्ञान का आवरण ५ घ्राण-इन्द्रिय का आवरण ३ घ्राण ज्ञान का आवरण ७ रसना-इन्द्रिय का आवरण ८ रसना ज्ञान का आवरण ९ स्पर्शनेन्द्रिय का आवरण और १० स्पर्श ज्ञान का आवरण।

२ दर्शनावरणीय कर्म छह प्रकार से बंधता है। यथा—१ दर्शन और दर्शनी की प्रत्यनीकता (विरोध) करने से, २ दर्शन एवं दर्शनी का अपलाप करने (लोप करने—छुपाने) से ३ दर्शन प्राप्त करने वाले को अन्तराय डालने (बाधक बनने)से,४ दर्शन व दर्शनी से द्वेष करने से ५ दर्शन व दर्शनी की आशातना करने से और ६ दर्शनी से विसंवाद (वितण्डावाद) करने से।

इस कर्म के फल नौ प्रकार के हैं—१ निद्रा २ निद्रानिद्रा ३ प्रचला ४प्रचला-प्रचला ५स्त्यानगृद्धि ६चक्षुदर्शनावरण ७अचक्षु-दर्शनावरण ८ अवधिदर्शनावरण और ९ केवलदर्शनावरण।

३ साता-वेदनीय कर्म दस प्रकार से बंधता है। यथा—पाणाणु-कंपयाए—बेइंद्रिय, तेइंद्रिय और चौरेन्द्रिय जीवों पर अनुकम्पा (दया) करने से, २ भूयाणुकंपयाए—वनस्पतिकाय के जीवों की अनुकम्पा करने से ३ जीवाणुकंपयाए—पंचेन्द्रिय जीवों की अनु-कम्पा करने से ४ सत्ताणुकंपयाए—पृथ्वीकायादि चार स्थावर-काय जीवों की अनुकम्पा करने से ५ बहुणं पाणाणं जाव सत्ताणं अदुक्खणयाए—उपरोक्त प्राणों, भूतों, जीवों और सत्त्वों को दुःख नहीं देने से ६ असोयणयाए—शोक उत्पन्न नहीं करने से। ७ अजूरणयाए—नहीं रुलाने, पीड़ित नहीं करने से, ८ अति-

प्पणयाए--आंसू नहीं गिराने से, ९ अपिट्टणयाए—नहीं पीटने से और १० अपरियावणयाए—परिताप (दुःख) उत्पन्न नहीं करने से।

इस कर्म का फल आठ प्रकार का है–१मनोज्ञ शब्द २ मनोहर रूप ३ मनोहर गंध ४ स्वादिष्ट रस ५ मनोज्ञ स्पर्श ६ इच्छित सुख ७ अच्छे वचन और ८ शारीरिक सुख का प्राप्त होना।

(ख) असातावेदनीय कर्म बारह प्रकार से बँधता है—

१ प्राण भूत जीव और सत्व को दुःख देने से २ शोक कराने से ३ झुराने ४ रुलाने ५ मार-पीट करने ९ परिताप उत्पन्न करने ७ बहुत दुःख देने ८ बहुत शोक कराने ९ बहुत झुराने १० बहुत रुलाने ११ बहुत मार-पीट करने और १२ बहुत परिताप उत्पन्न करने से।

इसका फल आठ प्रकार का है—१ अमनोज्ञ शब्द २ अमनोज्ञ रूप ३ अमनोज्ञ गन्ध ४ अमनोज्ञ रस ५ अमनोज्ञ स्पर्श ६ मन का दुःख ७ वचन का दुःख और ८ काया का दुःख।

४ मोहनीय कर्म छह प्रकार से बँधता है--१तीव्र क्रोध करने से २ तीव्र मान करने से ३ तीव्र माया करने से ४ तीव्र लोभ करने से ५ तीव्र दर्शन मोहनीय और ६ तीव्र चारित्र-मोहनीय से।

यह कर्म अट्ठाईस प्रकार से भोगा जाता है—वे अट्ठाईस प्रकार वही हैं जो प्रकृतियों में गिनाये जा चुके हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धी चौकड़ी का लक्षण इस प्रकार है—

१ अनन्तानुबन्धी क्रोध, जैसे पत्थर पर लकीर करने से वह मिट नहीं सकती अथवा पर्वत के फटने से जो दरार होती

है, उसका मिलना कठिन है, उसी प्रकार जो क्रोध शांत न हो, वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। अनन्तानुबन्धी मान, जैसे पत्थर का खम्भा नहीं झुकता, वैसे ही जो मान दूर न हो, उसे अनन्तानुबन्धी मान कहते हैं। अनन्तानुबन्धी माया, जैसे बांस की बिलकुल टेढ़ी-मेढ़ी कठिन जड़ का टेढ़ापन मिट नहीं सकता, उसी प्रकार जो माया अमिट हो, उसे अनन्तानुबन्धी माया कहते हैं। अनन्तानुबन्धी लोभ, जैसे किरमिची रंग का छूटना दुष्कर है, उसी प्रकार जो लोभ छूट न सके, उसे अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं।

इस चौकड़ी से नरक गति में जाना पड़ता है। स्थिति यावज्जीवन की है और सम्यक्त्व का घात करती है।

२ अप्रत्याख्यानी चोक के क्रोध का लक्षण—पानी सूखने से तालाब में जो दरार पड़ जाती है, वह आगामी वर्ष में वर्षा होने पर मिटती है, उसी प्रकार जो क्रोध, विशेष परिश्रम से शांत हो, उसे अप्रत्याख्यानी क्रोध कहते हैं। मान–हाथी-दाँत के खंभे की तरह जो बड़ी कठिनाई से दूर हो, वह अप्रत्याख्यानी मान है। माया—मेंढे के सींग की तरह जो कठिनाई से मिटे उसे अप्रत्याख्यानी माया कहते हैं। लोभ–गाड़ी के ओंगन के समान अति कष्ट से छुटे, वह अप्रत्याख्यानी लोभ है।

इस चौकड़ी से तिर्यंच गति होती है। इसकी स्थिति बारह महीने की है। यह एक देश-संयम का घात करती है।

३ प्रत्याख्यानावरण चोक के क्रोध का लक्षण--जैसे रेत में खिची हुई लकीर बहुत काल तक नहीं रहती, इसी प्रकार जो

क्रोध बहुत काल तक न ठहरे, उसे प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते हैं। मान--बेंत के खम्भे की तरह जिस मान को दूर करने के लिए बहुत अधिक श्रम न करना पड़े, उसे प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं। माया—चलता हुआ बैल पेशाब करता है, तो टेढ़ी लकीरें हो जाती हैं, उनका मिटना अति कष्ट-साध्य नहीं होता, उसी प्रकार जिस माया का मिटना कठिन न हो, उसे प्रत्याख्यानावरण माया कहते हैं। लोभ—दीपक के काजल के समान जो लोभ थोड़ी कठिनाई से छूटे, उसे प्रत्याख्यानावरण लोभ कहते हैं। इससे मनुष्य गति का बन्ध होता है। स्थिति चार महीने की है। यह सकल संयम का घात करती है।

संज्वलन चौक का स्वरूप--क्रोध पानी में खींची हुई लकीर के समान शीघ्र ही शान्त हो जाता है, वह सं. क्रोध है। मान--तिनके के खम्भे के समान शीघ्र ही नम जाय उसे सं. मान कहते हैं। माया—बाँस का छिलका जैसे सरलता से सीधा किया जा सकता है, उसी प्रकार जो माया बिना विशेष श्रम के दूर हो जाय, उसे सं. माया कहते हैं। लोभ–हल्दी के रंग के समान जो सहज ही छूट जाय, उसे संज्वलन लोभ कहते हैं।

इस चौकड़ी से देवगति होती है। क्रोध की स्थिति दो महीने की, मान की एक महीने की, माया की पन्द्रह दिन की और लोभ की अन्तर्मुहूर्त की है। यह कषाय यथाख्यात चारित्र का घात करती है। (यह कषाय का सामान्य लक्षण है)।

अनंतानुबंधी आदि चौकड़ी की स्थिति उस समय के भावों की तारतम्यता की दृष्टि से बताई है, वास्तव में कषाय की स्थिति तो अंतर्मुहूर्त से अधिक नहीं होती है।

ये सोलह भेद कषाय के और पूर्वोक्त नौ भेद नोकषाय के, इस प्रकार पच्चीस प्रकार से मोहनीय-कर्म भोगा जाता है।

आयुकर्म सोलह प्रकार से बंधता है और चार प्रकार से भोगा जाता है—

नरकायु चार प्रकार से बंधता है—१ महाआरम्भ करने से, २ महापरिग्रह करने से, ३ पंचेन्द्रिय जीवों की घात करने से और ४ मद्य-मांस का सेवन करने से।

तिर्यंचायु बन्ध के कारण—१ माया करने से, २ गूढ़ माया करने से, ३ असत्य बोलने से, ४ न्यूनाधिक नापने-तोलने से।

मनुष्यायु बन्ध के कारण—१ प्रकृति की भद्रता से २ विनीतता से ३ दयाभाव रखने से और ४ मद-मत्सर आदि से रहित होने से।

देवायु बन्ध के कारण—१ सराग संयम पालने से २ देश संयम पालने से ३ बाल तपस्या करने से और ४ अकाम निर्जरा करने से।

आयुकम चार प्रकार से भोगा जाता है—१ नरकायु २ २ तिर्यंचायु ३ मनुष्यायु और ४ देवायु।

नामकर्म आठ प्रकार से बंधता है। यह दो प्रकार का है—१ शुभ नामकर्म और २ अशुभ नामकर्म।

शुभ नामकर्म चार प्रकार से बंधता है--१ काया की सरलता २ वचन की सरलता ३ मन की सरलता और ४ विसंवाद रहितता से। यह चौदह प्रकार से भोगा जाता है [illegible] २ इष्ट रूप ३ इष्ट गंध ४ इष्ट रस ५ इष्ट स्पर्श ६ इष्ट गति इष्ट स्थिति ८ इष्ट लावण्य ९ इष्ट यश:कीर्ति १० इष्ट उत्थान कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम ११ इष्ट स्वर १२ कान्त

स्वर १३ अप्रिय स्वर और १४ मनोज्ञ स्वर से।

अशुभ नामकर्म चार प्रकार से बँधता है—१ काया की वक्रता (बांकापन) २ वचन की वक्रता ३ मन की वक्रता और ४ विसंवाद योग सहितता से। यह चौदह प्रकार से भोगा जाता है—१ अनिष्ट शब्द २ अनिष्ट रूप ३ अनिष्ट गंध ४ अनिष्ट रस ५ अनिष्ट स्पर्श ६ अनिष्ट गति ७ अनिष्ट स्थिति ८ अनिष्ट लावण्य ९अनिष्ट यशःकीर्ति १०अनिष्ट उत्थान, कर्म, बल, वीर्य, पुरुषकार पराक्रम ११ हीन स्वर १२ दीन स्वर १३ अप्रिय स्वर और १४ अमनोज्ञ स्वर से।

७ गोत्र कर्म सोलह प्रकार से बँधता और सोलह प्रकार से भोगा जाता है। इसके दो भेद हैं—१ उच्च गोत्र और २ नीच गोत्र। उच्च गोत्र आठ प्रकार से बँधता है—१ जाति★ का मद (घमण्ड) न करने से २ कुल🏛 का मद न करने से ३ बल का मद न करने से ४ रूप का मद न करने से ५ तपस्या का मद न करने से ६ श्रुत(ज्ञान)का मद न करने से ७ लाभ का मद न करने से और ८ ऐश्वर्य का मद न करने से। यह उच्च गोत्र आठ प्रकार से भोगा जाता है, अर्थात् इन आठ का मद न करे, तो उच्च गोत्र पाता है।

नीच गोत्र कर्म आठ प्रकार से बँधता और आठ प्रकार से भोगा जाता है—पूर्वोक्त जाति-कुल-बल-रूप-तप-श्रुत लाभ और ऐश्वर्य का घमण्ड करने से बँधता है और इनका घमण्ड

★ मातृपक्ष को 'जाति' कहते हैं।
🏛 पितृपक्ष को 'कुल' कहते हैं।

करने से नीच गोत्र को प्राप्ति होती है।

८ अन्तराय कर्म पांच प्रकार से बँधता और पाँच प्रकार से भोगा जाता है। यह दान, लाभ, भोग, उपभोग और वीर्य में अन्तराय डालने से बंधता है और इससे पांचों अन्तरायों की प्राप्ति होती है।

कर्मों की स्थिति और अबाधा काल★

ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म की जघन्य स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधा काल ज. अं. मु. उ. तीन हजार वर्ष का है। सातावेदनीय की ज.स्थिति ईर्यापथिकी क्रिया की अपेक्षा दो समय की, संपराय की अपेक्षा १२ मुहूर्त की और उ.पन्द्रह कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधा काल ज. अं. मु. उं. डेढ़ हजार वर्ष का है। असातावेदनीय की ज. स्थिति एक सागर के सात भागों में से तीन भाग और पल्यापम के असंख्यात भाग कम की और उ. तीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। इसका अबाधा काल ज. अं. मु. उ. तीन हजार वर्ष का है। मोहनीय कर्म की ज. स्थिति अन्तर्मुहूर्त और उत्कृष्ट सत्तर कोड़ाकोड़ी सागरोपम की है। अबाधा काल ज. अं. मु. उ. सात हजार वर्ष का है। नारकी तथा देवों के आयु कर्म की स्थिति ज. दस हजार वर्ष की, उ. तेतीस सागरोपम की है। मनुष्य और तिर्यंच के आयु कर्म की ज. स्थिति अंत-

★ कर्मबन्ध होने के प्रथम समय से ले कर जब तक उस कर्म का उदय या उदीरणाकरण नहीं होता, तब तक का काल 'अबाधा काल' कहला

मुहूर्त की, उ. तीन पल्योपम की। नामकर्म की ज. स्थिति आठ मुहूर्त की उ. बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की और अबाधा काल ज. अंतर्मुहूर्त उ. दो हजार वर्ष का है। गोत्रकर्म की ज. स्थिति आठ मुहूर्त की, उ. बीस कोड़ाकोड़ी सागरोपम की तथा अबाधा-काल जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट दो हजार वर्ष का है।

॥ बन्ध तत्त्व समाप्त ॥

६ मोक्ष तत्त्व

मोक्ष—आत्मा का कर्मरूपी बंधन से सर्वथा छूट जाना 'मोक्ष' है। आत्मा के संपूर्ण प्रदेशों से सभी कर्मों का क्षय हो जाना 'मोक्ष' कहलाता है।

मोक्ष तत्त्व का विचार नौ द्वारों से किया जाता है—

१ सत्पद प्ररूपणा द्वार, २ द्रव्य-प्रमाण द्वार, ३ क्षेत्र द्वार, ४ स्पर्शना द्वार, ५ काल द्वार, ६ अन्तर द्वार, ७ भाग द्वार, ८ भाव द्वार और ९ अल्प-बहुत्व द्वार।

सत्पद प्ररूपणा द्वार का निम्न लिखित चौदह मार्गणाओं के द्वारा भी वर्णन किया जा सकता है—

गति, इन्द्रिय, काय, योग, वेद, कषाय, ज्ञान, संयम, दर्शन, लेश्या, भव्य, सम्यक्त्व, संज्ञी और आहार। ये चौदह मार्गणाएँ हैं। इनके अवान्तर भेद ६२ होते हैं। यथा—गति ४, इन्द्रिय ५, काय ६, योग ३, वेद ३, कषाय ४, ज्ञान ८ (पाँच ज्ञान तीन अज्ञान) संयम ७, सामायिक चारित्र आदि पाँच चारित्र, देश-

विरति चारित्र और अविरति) दर्शन ४, लेश्या ६, भव्य २, (भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक) सम्यक्त्व ६ (औपशमिक, सास्वादन, क्षायोपशमिक, क्षायिक, मिश्र और मिथ्यात्व) संज्ञी २, (संज्ञी और असंज्ञी) आहारी २ (आहारी और अनाहारी) ये ६२ भेद होते हैं।

उपरोक्त चौदह मार्गणाओं में से अर्थात् ६२ भेदों में से जिन-जिन भेदों (मार्गणाओं) से जीव मोक्ष जा सकते हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—

मनुष्य-गति, पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, भवसिद्धिक, संज्ञी, क्षायिक समकित, यथाख्यात चारित्र, अनाहारक, केवलज्ञान और केवलदर्शन, इन दस मार्गणाओं से युक्त जीव मोक्ष जा सकता है। शेष चार मार्गणाओं (कषाय, वेद, योग, लेश्या) युक्त जीव मोक्ष नहीं जा सकता।

२ द्रव्य द्वार—सिद्ध जीव अनन्त हैं।

३ क्षेत्र द्वार—वे सभी सिद्ध जीव लोकाकाश के असंख्यातवें भाग अवस्थित हैं।

४ स्पर्शना द्वार—सिद्ध भगवान् की जितनी अवगाहना है उससे स्पर्शना अधिक है। इसका कारण यह है कि जितने आत्म-प्रदेश हैं, अवगाहना तो उतनी ही रहेगी, परन्तु अवगाहना के चारों ओर नीचे ऊपर आकाश-प्रदेश लगे हुए हैं, इसलिए अवगाहना से स्पर्शना अधिक है।

५ काल द्वार—एक सिद्ध की अपेक्षा से सिद्ध जीव आदि-अनन्त हैं और सभी सिद्धों की अपेक्षा से अनादि-अनन्त हैं।

६ अन्तर द्वार—सिद्धजीवों में अन्तर नहीं है, क्योंकि सिद्ध अवस्था को प्राप्त करने के बाद फिर वे संसार में आ कर जन्म नहीं लेते।

७ भाग द्वार—सिद्ध जीव, संसारी जीवों के अनन्तवें भाग हैं। संसारी जीव सिद्ध जीवों से अनन्त गुण अधिक हैं।

८ भाव द्वार—औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, औदयिक और पारिणामिक, इन पांच भावों में से सिद्ध जीवों में क्षायिक और पारिणामिक—ये दो भाव पाये जाते हैं। केवलज्ञान-केवल-दर्शन क्षायिक भाव में हैं और जीवत्व पारिणामिक भाव में हैं।

९ अल्पबहुत्व द्वार—सब से थोड़े नपुंसक-लिंग सिद्ध हैं। उनसे स्त्रीलिंग-सिद्ध संख्यातगुण अधिक हैं और पुरुषलिंग-सिद्ध उनसे संख्यात गुण अधिक हैं। इसका कारण यह है कि नपुंसक एक समय में उत्कृष्ट दस मोक्ष जा सकते हैं, स्त्रीलिंग एक समय में उत्कृष्ट बीस और पुरुषलिंग एक समय में उत्कृष्ट १०८ मोक्ष जा सकते हैं।

मनुष्य गति से ही जीव मोक्ष जा सकते हैं। नरकगति, तिर्यंच-गति और देवगति से कोई भी जीव मुक्ति नहीं पा सकता।

१ सब से थोड़े जीव चौथी नरक से निकल कर मनुष्य हो कर सिद्ध हुए।
२ तीसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३ दूसरी नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
४ वनस्पतिकाय से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
५ पृथ्वीकाय से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।

६ अप्काय से निकल कर मनुष्य हो सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
७ भवनपति देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
८ भवनपति देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
९ वाणव्यन्तर देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१० वाणव्यन्तर देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
११ ज्योतिषी देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१२ ज्योतिषी देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१३ मनुष्यिनी से सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१४ मनुष्य से सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१५ पहली नरक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१६ तिर्यंचिनी से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१७ तिर्यंच से निकलकर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१८ अनुत्तर विमानवासी देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
१९ नवग्रैवेयक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२० बारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२१ ग्यारहवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२२ दसवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२३ नौवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२४ आठवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२५ सातवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२६ छठे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।
२७ पांचवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण ।

२७ पाँचवें देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
२८ चौथे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
२९ तीसरे देवलोक से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३० दूसरे देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३१ दूसरे देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३२ पहले देवलोक की देवियों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।
३३ पहले देवलोक के देवों से निकल कर सिद्ध हुए संख्यात गुण।

एक समय से आठ समय तक एक-एक से ले कर बत्तीस तक जीव मोक्ष जा सकते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि पहले समय में जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार दूसरे समय में, तीसरे, चौथे यावत् आठवें समय तक जघन्य एक, दो और उत्कृष्ट बत्तीस जीव मोक्ष जा सकते हैं। आठ समयों के बाद निश्चय रूप से अन्तर पड़ता है।

तेतीस से ले कर अड़तालीस तक जीव निरन्तर सात समय तक मोक्ष जा सकते हैं। ऊनपचास से ले कर साठ तक जीव निरन्तर छह समय तक मोक्ष जा सकते हैं। इकसठ से बहत्तर तक जीव निरन्तर पाँच समय तक, तिहत्तर से चौरासी तक निरंतर चार समय तक, पिचासी से छियानवे तक निरंतर तीन समय तक, सत्तानवें से एक सौ दो तक निरंतर दो समय तक

और एक सौ तीन से ले कर एक सौ आठ तक जीव एक समय में मोक्ष जा सकते हैं। इसके पश्चात् अवश्य अन्तर पड़ता है। दो-तीन आदि समय तक निरन्तर उत्कृष्ट सिद्ध नहीं हो सकते।

॥ मोक्ष तत्त्व समाप्त ॥

नव तत्त्व जानने का लाभ—

"जीवाइनवपयत्थे, जो जाणइ तस्स होइ सम्मत्तं।
भावेण सद्दहंतो, अयाणमाणे वि सम्मत्तं॥"

—जो जीवादि नव तत्त्वों को जानता है, उसे सम्यक्त्व प्राप्त हाता है। जीवादि तत्त्वों को नहीं जानने वाले भी यदि शुद्ध अन्तःकरण से जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए नव तत्त्वों पर श्रद्धा रखते हैं, तो उन्हें भी सम्यक्त्व प्राप्त होता है। यथा—

"सव्वाइ जिणेसरभासियाइं, वयणाइं णण्णहा हुंति।
इय बुद्धि जस्स मणे, सम्मत्तं णिच्चलं तस्स॥"

अर्थ—"जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए सभी वचन सत्य हैं"—ऐसी जिसकी बुद्धि हो, उसे निश्चय से सम्यक्त्व प्राप्त होता है।

"अंतोमुहुत्तमित्तं वि फासियं, हुज्ज जेहिं सम्मत्तं।
तेसिं अवड्ढ-पुग्गल-परियट्टो चेव संसारो॥"

अर्थ—जिन जीवों ने अन्तर्मुहूर्तमात्र भी समकित की स्पर्शना कर ली, उनको उत्कृष्ट अर्द्ध-पुद्गल-परावर्तन से अधिक संसार में परिभ्रमण नहीं करना पड़ता। वे अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन के भीतर ही मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

अर्द्ध पुद्गल-परावर्तन—

उस्सप्पिणी अणता, पुग्गलपरियट्टो मणेयव्वो ।
तेणंता तीअद्धा अणागयद्धा अणंतगुणा ।।

अर्थ—अनन्त उत्सर्पिणी और अनन्त अवसर्पिणी बीत जाने पर एक पुद्गल परावर्तन होता है । इस प्रकार के पुद्गल परावर्तन अनन्त हो चुके हैं और अनन्त होने वाले हैं ।

भव्य जीव इन नव तत्त्वों का अभ्यास कर के श्री जिनेश्वर भगवान् की आज्ञा का सम्यक् श्रद्धान करें और विशुद्ध आचरण रूप सम्यक् चारित्र का पालन करके मोक्ष पद प्राप्त करें । यही नव तत्त्वों को जानने का सार है ।

।। नव तत्त्व सम्पूर्ण ।।

संघ के प्रकाशन

१ मोक्ष मार्ग ग्रंथ भाग १	अप्राप्य
२–८ भगवती सूत्र भाग १, २, ३, ४, ५, ६, ७,	३००–००
९ उत्तराध्ययन सूत्र	२०–००
१० उववाइय सुत्त	अप्राप्य
११ दशवैकालिक सूत्र	,,
१२ अंतगडदसा सूत्र	,,
१३ सुखविपाक सूत्र	१–००
१४ सिद्धस्तुति	१–५०
१५ प्रतिक्रमण सूत्र	२–००
१६ संसार तरणिका	३–५०
१७ अनुत्तरोववाइय सूत्र	०–५०
१८ प्रश्नव्याकरण सूत्र	अप्राप्य
१९ नन्दी सूत्र	,,
२० मंगल प्रभातिका	१–२५
२१ सम्यक्त्व विमर्श	अप्राप्य
२२ आलोचना पंचक	१—००
२३ जीव घड़ा	०—५०
२४ लघुदण्डक	१—००
२५ महादण्डक	०—७५
२६ तेतीस बोल	०—५०
२७ गुणस्थान स्वरूप	०—६०
२८ सामायिक सूत्र	०—५०
२९ गति-आगति	०—४०
३० नव तत्व	५—००
३१ कर्म-प्रकृति	०—४०
३२ पच्चास बोल	१—२५
३३ शिविर व्याख्यान	३—५०
३४ समिति गुप्ति	३—५०

३५ जैन स्वाध्यायमाला	१०—००
३६ तीर्थंकरों का लेखा	०—५०
३७ समकित के ६७ बोल	०—५०
३८ सार्थ सामायिक सूत्र	अप्राप्य
३९ तत्व-पृच्छा	अप्राप्य
४० एक सौ दो बोल का बासठिया	०—३०
४१-४२-४३ समर्थ समाधान भाग १, २, ३	३०—००
४४ स्तवन तरंगिणी	२—००
४५ विनयचंद चौवीसी और शांति प्रकाश	०—७५
४६ तीर्थंकर-पद प्राप्ति के उपाय	३—५०
४७ भवनाशिनी भावना	०—६०
४८ तीर्थंकर चरित्र भाग १, २, ३,	५०—००
४९ आत्म-साधना संग्रह	अप्राप्य
५० आत्मशुद्धि का मूल तत्वत्रयी	१०—००
५१ उपासकदशांग सूत्र	अप्राप्य
५२ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग १	५—००
५३ अंगपविट्ठ सुत्ताणि भाग १	१४—००
५४ सामण्ण-सड्ढि धम्मो	अप्राप्य
५५ अंगपविट्ठ सुत्ताणि भाग २	२५—००
५६ जैन सिद्धांत थोक संग्रह भाग २	४—००
५७ अंगपविट्ठ सुत्ताणि भाग ३	१२—००
५८ अंगपविट्ठ सुत्ताणि-एक्कारसंगसंजुओ	६०—००
५९ अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग १	२५—००
६० दसवेयालियसुत्तं	३—००
६१ अनंगपविट्ठसुत्ताणि भाग २	३०—००
६२ भक्तामरस्तोत्र	०—७५
६३ जैन स्तुति	५—००
६४ आनुपूर्वी	०—५०
६५ सार्थ प्रतिक्रमण सूत्र	अप्राप्य

मुद्रकः-जैन प्रिंटिंग प्रेस, नेहरु गेट बाहर, ब्यावर (राज.)